नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचार पत्र • वर्ष 8 अंक 8
सितम्बर 2006 • तीन रुपये • बारह पृष्ठ

अनुराग पुस्तकालय एवं वाचनालय

आजादी के छह दशक बाद भी 70 प्रतिशत जनता गरीब

यह है "विकास" की चकाचौंध में चमकते भारत की असली तस्वीर

इस लुटेरी व्यवस्था को इतिहास के कूड़ेदान में पहुँचाना ही होगा

15 अगस्त को लाल किले पर तिरंगा फहराते हुए प्रधानमंत्री ने एक बार फिर अपना पुराना राग अलापा कि भारत लगातार समृद्धि और विकास के रास्ते पर बढ़ता चला जा रहा है। बड़े फख्र से मनमोहन सिंह ने कहा कि अर्थव्यवस्था लगातार तीसरे वर्ष आठ फीसदी की वृद्धि दर से बढ़ रही है, भारतीय उद्योग पूरी दुनिया की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार है। उन्होंने फरमाया कि पिछले तीन महीने में तो औद्योगिक विकास दर ग्यारह फीसदी रही है। नई रेल लाइनें बिछ रही हैं, नए हवाई अड्डे खुल रहे हैं, चारों ओर विकास की बयार है।

आइये जरा देखें कि विकास की इस बयार ने आम मेहनतकश जनता को क्या दिया है?

यह सारा विकास जिन मेहनतकशों के दम पर हो रहा है, जिनकी हड्डियों तक से रक्त-मज्जा निचोड़कर मुनाफाखोरों के लिए सिक्के ढाले जा रहे हैं, वे जिन नारकीय हालात में जी रहे हैं उसे देखने के लिए मनमोहन सिंह के लिए दिल्ली और इसके आस-पास की मजदूर बस्तियों में एक नजर डाल लेना ही काफी होगा। पर वे न तो ऐसा करेंगे और न ही उन्हें इसकी जरूरत है। वे सबकुछ जान-समझकर ही देश को इस रास्ते पर ले जा रहे हैं जो तीन चौथाई आबादी को अँधेरे में धकेलकर ऊपर के 20-25 प्रतिशत लोगों के लिए जगमग रंगीनियाँ सजा रहा है। राजधानी और इसके आस-पास फैलते जा रहे औद्योगिक इलाकों में लाखों-लाख मजदूर हफ्ते में सात दिन बारह-चौदह घण्टे कमरतोड़ काम करने के बाद बमुश्किल 2200-2500 कमा पाते हैं। ये भी वे हैं जिन्हें महीने भर काम मिल पाता है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक देश में 36 करोड़ से अधिक असंगठित मजदूर हैं जिनकी तादाद लगातार बढ़ती जा रही है। खेती पर पूँजीवादी नीतियों की मार से गाँवों से उजड़कर रोजी-रोटी की तलाश में गाँव और छोटे शहरों से मजदूरों का महानगरों में आने का सिलसिला तेज होता जा रहा है। हर महानगर में उद्योग-धन्धों और दिनोंदिन फैलते खाते-पीते मध्यवर्ग की तमाम जरूरतों को पूरा करने के लिए लाखों गरीब कामगारों की दरकार है लेकिन उन्हें बसने के लिए, सम्मान के साथ जीने के लिए थोड़ी भी जगह इन महानगरों के महाप्रभु नहीं देना चाहते। आये दिन एक-एक करके शहर से गरीबों को उजाड़कर दूर-दराज फेंका जा रहा है जहाँ से अपनी काम की जगहों तक आने-जाने में ही उन्हें अपनी मामूली कमाई का लगभग एक तिहाई गँवा देना पड़ता है।

खुद सरकारी आँकड़ों और विश्व बैंक आदि की रिपोर्टों के मुताबिक तमाम दावों के बावजूद बेरोजगारी लगातार बढ़ रही है। बेरोजगारों की फौज में नई भर्ती तो लगातार जारी ही है, कुछ अर्थशास्त्रियों का अनुमान है कि 2010 तक भारत की वर्तमान कार्यरत जनशक्ति का 30 प्रतिशत नियमित रोजगार से हाथ धो बैठेगा। फिर भी, मनमोहन सिंह बेशर्मी के साथ कहते हैं कि गरीबी और बेरोजगारी कम करने का एकमात्र तरीका आर्थिक वृद्धि ही है। सरकार दावा करती है कि उसने गरीबी रेखा से नीचे जीने वालों की संख्या 36 प्रतिशत से घटाकर 26 प्रतिशत कर दी है। यह कितना बड़ा झूठ और फरेब है इसके बारे में हम पहले भी लिख चुके हैं। इस सरकारी फरेब को समझने के लिए सरकारी आँकड़े ही काफी हैं। देश की प्रमुख अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक के मुताबिक खुद सरकार ने गरीबी का जो पैमाना बनाया है उस पर ही मापें तो 70 प्रतिशत आबादी गरीबी में जी रही है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर कमल मित्र चिनॉय के अनुसार शहरी इलाकों में गरीबी 65 प्रतिशत और ग्रामीण इलाकों में 80 प्रतिशत तक है। बहुत छूट देकर भी सोचें, तो कम से कम 60 प्रतिशत लोग तो गरीबी रेखा के नीचे जी ही रहे हैं।

गरीबी का सरकारी पैमाना अपने आप में इंसानियत का मजाक है। इसके मुताबिक अगर शहर में किसी व्यक्ति को 2400 कैलोरी और गाँवों में 2100 कैलोरी रोज देने लायक भोजन मिलता है तो वह गरीब नहीं है। इस हिसाब से अगर शहर में कोई व्यक्ति 573 रुपये और गाँव में 334 रुपये महीने की कमाई कर लेता है तो उसे गरीब नहीं माना जायेगा। कोई भी समझ सकता है कि शहर में फुटपाथ पर सोने और एक जून सड़ा-गला खाने के लिए भी इतनी कमाई काफी नहीं है। जो मजदूर बजबजाती नालियों के बीच आठ गुणा आठ फीट की कोठरियों में रहते हैं, साइकिल पर 15-20 किलोमीटर मजदूरी करने जाते हैं और सुबह से रात तक खटते हैं वे भी 2200-2500 की अपनी मजदूरी में से बीवी-बच्चों के लिए शायद ही कुछ बचा पाते हैं।

लगातार बढ़ती महँगाई ने सीधे गरीबों के पेट पर मार की है। मगर वित्त मंत्री चिदम्बरम बेशर्मी के साथ कहते हैं कि आर्थिक वृद्धि के कारण लोगों के पास खर्च करने के लिए अतिरिक्त कमाई हो गई है इसलिए मालों और सेवाओं की माँग बढ़ रही है और इसी वजह से चीजों के दाम बढ़ रहे हैं। पूँजीपतियों और खाते-पीते मध्यवर्ग के दुलारे वित्त मंत्री के लिए लोगों का मतलब सिर्फ ऊपर की 20-25 फीसदी आबादी ही है। देश की तीन-चौथाई आबादी के लिए इस महँगाई का क्या मतलब है यह उनकी नजर से बाहर ही है। सच तो यह है कि मेहनतकश आबादी की वास्तविक आय में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई है, सिर्फ कमरतोड़ मेहनत ही बढ़ी है। महँगाई के तमाम आँकड़ों पर न जायें तो भी इतना साफ है कि आम मेहनतकश आदमी परिवार की बुनियादी जरूरतों में कटौती करके ही किसी तरह से जी पा रहा है।

सरकारी आँकड़ों के मुताबिक आज से 50 साल पहले 5 व्यक्तियों

पेज 6 पर जारी

लेबनान में इजरायली शिकस्त के नतीजे दूरगामी होंगे

एक बार फिर साबित हुआ कि बड़ी से बड़ी फौजी ताकत को जनसंघर्ष के आगे झुकना पड़ता है

चन्द दिनों की भयानक बमबारी से हिज्बुल्ला की ताकत को नेस्तनाबूद कर देने के इजरायली मंसूबों पर घड़ों पानी फिर गया है। लेबनान में भीषण तबाही मचाने के बाद भी इजरायली सेना न सिर्फ हिज्बुल्ला को खत्म करने में नाकाम रही बल्कि उसे खासा नुकसान उठाना पड़ा और पूरा इलाका खाली करके पीछे हटना पड़ा है। अरब जगत सहित पूरी दुनिया में हिज्बुल्ला को इस युद्ध के वास्तविक विजेता के रूप में देखा जा रहा है जिसने इजरायल की अपराजेयता के मिथक को ध्वस्त कर दिया और यह दिखा दिया कि अपने वतन से प्यार करने वाले जनयोद्धा बड़ी से बड़ी फौजी ताकत को पीछे धकेल सकते हैं।

चौंतीस दिन तक चले इस युद्ध के दौरान इजरायल ने पूरे लेबनान में तबाही का कहर बरपा कर दिया। घरों, स्कूलों, अस्पतालों, बिजलीघरों से लेकर हर सड़क, हर पुल को बमबारी का निशाना बनाया गया। अब तक हुई गिनती के मुताबिक लेबनान में करीब 1200 लोग मारे गये लेकिन वास्तविक संख्या 2000 तक हो सकती है। दस लाख लोग यानी लेबनान की करीब एक तिहाई आबादी बेघर हो गयी। इजरायली बमबारी से 35,000 से भी ज्यादा घर, दफ्तर और अन्य इमारतें ध्वस्त हो गयीं। इजरायली सेना ने इस छोटे से, खूबसूरत मुल्क पर 27 दिनों तक रोज 5000 मिसाइलें, 5-5 टन के बंकर बस्टर बम, घातक क्लस्टर बम और फास्फोरस बम गिराये। यानी 27 दिनों में कुल 1,35,000 मिसाइलें, बम और तोप के गोले। आखिरी 7 दिनों में तो इसने 42,000 मिसाइलें और बम बरसाये। यानी घनी आबादी वाले इलाकों पर एक महीने के अन्दर कुल 1,77,000 मिसाइलें और बम बरसाये गये। इसकी तुलना में हिज्बुल्ला ने 34 दिनों में सिर्फ 4000 मिसाइलें दागीं लेकिन इजरायली इसी पर हाय-तौबा मचा रहे हैं। इजरायली सेना ने जो घातक क्लस्टर बम गिराये गये हैं उनके कारण लम्बे समय तक लेबनान में आम लोगों और बच्चों की मौतें होती रहेंगी। संयुक्त राष्ट्र के अनुसार क्लस्टर बमों से निकलने वाले करीब एक लाख बिना फटे हुए छोटे बम लेबनान में बिखरे हुए हैं। इन सबको ढूँढ़कर नाकाम करना नामुमकिन है। युद्ध विराम के बाद के एक सप्ताह में ही ऐसे बमों के अचानक फट जाने से 50 लोग हताहत हो चुके हैं।

इजरायली हमलों में अब तक की जा सकी गिनती के अनुसार करीब 1200 लेबनानी नागरिक मारे गये जिनमें लगभग 300 से ज्यादा बच्चे थे। लेबनान के सिर्फ 93 लड़ाके मारे गये। दूसरी ओर हिज्बुल्ला की जवाबी कार्रवाई में इजरायल के 116 सैनिक मारे गये और सिर्फ 41 नागरिकों की मौत हुई। इनमें से 18 इजरायली अरब नागरिक थे जिन्हें बमबारी से बचने के लिए बने शेल्टरों में जगह नहीं मिली क्योंकि ये शेल्टर सिर्फ यहूदियों के लिए थे।

पेज 6 पर जारी

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

'बिगुल' के जुलाई और अगस्त 2006 के अंकों में प्रूफ की अशुद्धियाँ पहले से कम हुई हैं। इसे शत-प्रतिशत शुद्ध बनाने का लक्ष्य होना चाहिए। 'बिगुल' का तेवर ऐसे ही बना रहना चाहिए। मैं अपनी अस्वस्थता के कारण अभी ज्यादा कुछ नहीं कर पा रहा हूँ लेकिन मुझसे जो भी सहयोग चाहें आप निस्संकोच कह सकते हैं।

– सुरेन्द्र कुमार
208, समाचार अपार्टमेंट,
दिल्ली-91

सरेराह है लगती मण्डी यहाँ

अगर आप कभी पशु मेले में गये हो तो आपको पता होगा कि खरीदार किस तरह पशु के दाँत वगैरह देखकर जाँच करते हैं और तब पशुओं को खरीदते हैं। इसी तरह का नजारा नोएडा की फैक्ट्रियों के बाहर भी देखा जा सकता है। यहाँ खरीदार होते हैं मालिक के मातहत सुपरवाइजर या ठेकेदार और बिकते हैं मज़दूर। सुपरवाइजर या ठेकेदार मज़दूरों को इंसान की तरह नहीं बल्कि जानवरों की तरह देखता है। असल में मालिकों को जरूरत होती है खूब खट सकने वाले, फुर्ती से काम करने वाले नौजवान मज़दूरों की। इसीलिए वे आमतौर पर सबसे कम उम्र के, मजबूत कदकाठी और चुस्त नजर आने वाले मज़दूरों को छाँटकर भर्ती कर लेते हैं। मुनाफे के लिए मालिक कितनी अजीबोगरीब शर्तों पर किस तरह मज़दूरों को काम पर रखता है इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

भर्ती की पूरी प्रक्रिया ही काफी अपमानजनक होती है जिससे गुजरना हर मज़दूर की मजबूरी होती है। यहाँ पर गेट पर बोर्ड टाँगकर भर्ती होती है। बोर्ड टँगते ही मज़दूरों की भीड़ जमा हो जाती है। भीड़ जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे गार्डों का मज़दूरों को दुरदुराना, धकेलकर गेट से दूर करना, डाँटना-फटकारना शुरू हो जाता है। कड़ी धूप में नौकरी की आस में मज़दूर जमे रहते हैं। ठेकेदार और सुपरवाइजर आकर एक-एक को परखते हैं और अपने काम के लोगों को लेकर फैक्ट्री में चले जाते हैं।

फैक्ट्री मालिकों की जरूरतों के अनुसार मज़दूरों को छाँटने के लिए कई तरीकें अपनाये जाते हैं। मसलन यहाँ के सेक्टर-59 स्थित सी-30 कम्पनी में गेट के बाहर बोर्ड लगा था जिसमें केवल नेपाली लड़कों को भर्ती करने की बात लिखी थी। इस फैक्ट्री में ज्यादातर मज़दूर नेपाली ही हैं। पूछने पर वजह मालूम हुई कि नेपाली लोग खूब मेहनत से काम करते हैं। नेपाली रुपये की कीमत कम होने के कारण ये कम पैसों में भी काम करने को तैयार हो जाते हैं। काम ही तलाश में यहाँ आने वाले ज्यादातर कम उम्र के नौजवान ही होते हैं। दूसरे प्रवासी मज़दूर होने के कारण ज्यादा विरोध करने की स्थिति में भी नहीं होते। अतः मालिकों की मनमर्जी के हिसाब से निचोड़ने के लिए ये आसान शिकार होते हैं।

इसी तरह यहाँ सेक्टर-58 स्थित सी-27 कम्पनी में बकायदा बोर्ड लगाकर सूचना दी गयी कि यहाँ केवल 18 से लेकर 20 वर्ष की उम्र तक के लोगों की भर्ती होती है। यहाँ भर्ती के लिए आयु का प्रमाणपत्र माँगा जाता है जिसमें आपकी आयु एक दिन भी ऊपर होने पर लिया नहीं जाता है। ऐसा कई कम्पनियों में अघोषित तौर पर होता है।

ये तो कुछ उदाहरण हैं। साफ है कि इस बाजार में खरीदने वाले यानी पूँजीपति का पलड़ा हमेशा भारी रहता है। वह अपनी मर्जी से अपनी शर्तों पर मज़दूरों को खरीदने की ताकत रखता है। वह नौजवान, चुस्त और ताकतवर मज़दूरों को चुन लेते हैं और पुराने उम्रदराज या कमजोर को छाँटकर बाहर का रास्ता दिखा देते हैं। यहाँ बिकने वाले या अपना श्रम बेचने वाले की मर्जी की कोई अहमियत नहीं होती। उसे पता नहीं होता कि उसे जिबह किया जाएगा या कोल्हू के बैल की तरह जोत दिया जाएगा।

पूँजीवादी व्यवस्था की यही खूबी है। यहाँ शोषण इतनी चालाकी से होता है कि मज़दूर आजाद होते हुए भी आजाद नहीं होता। वह उजरती गुलामी (दिहाड़ी के लिए मज़दूरी) के दुष्चक्र में फँसा होता है। उसकी स्थिति पशु मेले में खड़े उसी मूक पशु की स्थिति होती है जिसकी किस्मत का फैसला उसका खरीदने वाला करता है और खरीदने वाला भी मज़दूर को अपनी शर्तों और मर्जी के हिसाब से काम पर रखता है। इस बाजार में मज़दूर का जिस्म खुद एक माल बन जाता है जिसका भरपूर उपयोग करना खरीदार का अधिकार होता है। इंसानी जिस्म की खुलेआम मण्डी लगाने वाली इस व्यवस्था को तबाह करना ही इसका समाधान हो सकता है।

–कपिल

बम बम बम बम धर्म का बम, जाति का बम
भस्म भस्म भस्म जन हित भस्म

चुनाव की सुगबुगाहट हुई नहीं कि जोर-शोर से तैयारी शुरू। अब तक चूँकि पूँजीपतियों की सेवा से फुर्सत ही नहीं थी इसलिए जनता की बुनियादी समस्याओं की ओर ध्यान ही नहीं जा पाया था। लेकिन जब चुनाव ऐन सिर पर है तो जनता की कुछ तो सुधि लेनी ही होगी! लिहाजा, कम्बल बाँटे जा रहे हैं, बेरोजगारों को पाँच-पाँच सौ रुपयों की भीख दी जा रही है, कन्याओं को विद्याध्ययन के लिए धन दिया जा रहा है। मतलब कि चुनाव के मौसम में ही सही, जनता को यह तो समझ में आ रहा है कि वह 'दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र' में वास करती है। लेकिन सिर्फ़ इतने से ही कैसे यह भरोसा हो कि वोट झोली में गिर ही जायेगा। इसलिए ये चुनावी मदारी अपने अंग्रेज पुरखों की लीक पर चलते हुए 'बाँटो और राज करो' के कारगर हथकण्डे को भी आजमाने में कोई कोताही नहीं कर रहे हैं। एक बार फिर राख में दबी आरक्षण की चिंगारी को हवा दे दी गयी है और 'धर्मभीरु' जनता की भावनाओं को भड़काने का खेल भी जारी कर दिए हैं।

हालाँकि इस आरक्षण का मुद्दा उतना नहीं लहकाया जा सका जितना 1990 में वी.पी. सिंह ने लहकाया था फिर भी पुराने जख्म को हरे हो ही गये हैं। इसी तरह मन्दिर-मस्जिद शिगुफे की पोल-पट्टी जनता के बीच खुल जाने के बाद भी एक बार फिर आजमाने की कोशिशें जारी हैं। 1996 में गणेश जी को दूध पिलवाया गया था इस बार शिव जी को आजमाया गया। समन्दर के खारे पानी के अचानक मीठा हो जाने को चमत्कारों के रूप में प्रचारित किया गया। यानी, जातिगत संकीर्णता, धार्मिक अन्धविश्वास और औझागिरी, चमत्कार–हर वह हथकण्डा आजमाया जा रहा है जो जनता को बुनियादी मुद्दों से बहका सके और इन सत्तालोलुपों को कुर्सी दिला सके।

जनता की बाँटने-भरमाने की ये कवायदें इस भय से भी की जा रही है कि कहीं वह एकजुट होकर सड़कों पर मुट्ठियाँ ताने निकल न पड़े और इस लूटतंत्र का क्रियाकर्म न कर दे। ये चुनावी लुटेरे जनता की मुट्ठी की ताकत समझते हैं। इसीलिए उससे मुकाबले की तैयारी कर रहे हैं। अब बारी हमारी है, हमें अपनी मुट्ठी की ताकत ठीक से पहचाननी होगी।

–गीतिका, इलाहाबाद

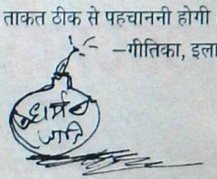

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मजदूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मजदूर आंदोलन के इतिहास और सबक से मजदूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।
2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मजदूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।
3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।
4. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।
5. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

क्रान्तिकारियों के महत्वपूर्ण दस्तावेज

1. भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज		175.00
2. शहीदेआज़म की जेल नोटबुक	भगतसिंह	65.00
3. विचारों की सान पर	भगतसिंह	25.00
4. भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति	विपन चन्द्र	10.00
5. अमर शहीद सरदार भगतसिंह	जितेन्द्रनाथ सान्याल	75.00
6. यश की धरोहर	भगवानदास माहौर, सदाशिवराव मलकापुरकर, शिव वर्मा	30.00
7: भगतसिंह और उनके साथी	अजय घोष, गोपाल ठाकुर	30.00
8. संस्मृतियाँ	शिव वर्मा	50.00
9. इक्कीसवीं सदी में भगतसिंह	रविभूषण	10.00
10. भगतसिंह : अनवरत जलती मशाल	राजकुमार राकेश, मनोज शर्मा	10.00
11. शहीद सुखदेव : नौघरा से फाँसी तक डॉ. हरदीप सिंह (सं.)		20.00

सभी पुस्तकों के लिए सम्पर्क करें : जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ, फोन : 2786782

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क : 289-सी, श्रमिक कुंज, सेक्टर-66, नोएडा
ईमेल : bigul@rediffmail.com
मूल्य: एक प्रति–रु. 3/- वार्षिक–रु. 40.00 (डाक खर्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :
1. डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
2. जनचेतना स्टाल, काफी हाउस बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)
3. जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001
4. 16/6, वायम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद
5. जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)

मेहनतकश साथियों के लिए जरूरी कुछ पुस्तकें

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा –लेनिन 5/-
मकड़ा और मक्खी –विल्हेल्म लीब्कनेख्त 3/-
ट्रेड यूनियन काम के जनवादी तरीके –सर्जी रोस्तोवस्की 3/-
अनश्वर है सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं 10/-
समाजवाद की समस्याएं, पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति 12/-
क्यों माओवाद? 10/-
बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में 5/-
मई दिवस का इतिहास 5/-
अक्टूबर क्रान्ति की मशाल 12/-
पेरिस कम्यून की अमर कहानी 10/-

बिगुल बिक्रेता साथी से माँगे या इस पते पर 17 रु. रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर मनीआर्डर भेजें: जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ।

संशोधनवादियों के मजदूर विरोधी कारनामे

बिगुल संवाददाता

पंजाब के लुधियाना औद्योगिक क्षेत्र की स्थिति आजकल बहुत हद तक मजदूर विरोधी है। मालिक-पुलिस-प्रशासन गठजोड़ के तीखे हमले और गद्दार ट्रेड यूनियनों के कारण एक बार फिर मजदूर अपने आन्दोलन के बारे में सोचने पर मजबूर हैं। यहाँ पिछले वर्षों में उठ खड़े होने वाले आन्दोलनों का अंजाम लगभग एक जैसा ही रहा है। प्रशासन और मालिकों ने मिलकर जबर-जुल्म द्वारा कई आन्दोलनों को नाकाम किया। लेकिन सबसे बड़ी वजह असल में आस्तीन के साँप तो ट्रेड यूनियन लीडर थे जो बातें तो मजदूरों को उनके हक-हकूक दिलवाने की करते थे लेकिन असल में वो पूँजीपतियों के टुकड़खोर थे जो चन्द सिक्कों की खातिर आन्दोलन को दाँव पर लगा सकते हैं। बेशक मजदूरों के संघर्ष का इतिहास बड़ा लम्बा है और हारों का सामना करते हुए भी बहुत सारे हक हासिल भी किए गए। लेकिन वर्तमान दौर में फिलहाल लुधियाना की मजदूर लहर लगातार पीछे ही धकेली जा रही है, जिस कारणवश व्यापक मजदूर आबादी में निराशा का आना लाजमी था। "जितना भी आन्दोलन कर लें, कितने भी नारे लगा लें, मगर होता कुछ नहीं" जैसी बातें आम तौर पर सुनने को मिलती हैं। बेशक यह विचार सही नहीं है लेकिन फिर भी साधारण मजदूर जो स्थिति का ऐसे ही आकलन करता है।

लुधियाना में समय-समय पर मजदूरों के जुझारू आन्दोलन सामने आए और इन बहादुर संघर्षों ने सबका ध्यान खींचा। हीरो साइकिल इण्डस्ट्री की लम्बी चली हड़ताल, हाईवे, रॉकमैन, के. डब्ल्यू बजाज सन्स, कंगारू फैक्ट्री, एवन साइकिल और ऐसी ही अनेकों फैक्ट्रियों में मजदूरों के जुझारू आन्दोलन देखने को मिले। मजदूरों ने अपनी ताकत के दम पर कई फैक्ट्रियों में लाल झण्डा भी फहराया। यह बहुत ही उत्साहपूर्ण स्थिति थी जो काफी लम्बे संघर्ष के बाद पैदा हुई थी। लेकिन हमेशा की तरह माँगों-मसलों के माने जाने के मामले में कोई प्रगति न हो सकी। हमेशा की तरह फैक्ट्री से निकाला जाना जारी रहा और तालाबन्दियाँ होती रहीं, यूनियन की मौजूदगी में भी मजदूर असहाय महसूस करते रहे और धकेलकर गेट से बाहर किये जाते रहे। आज जरूरत इन सभी घटनाओं पर फिर से विचार करने की है कि क्या कमियाँ और कमजोरियाँ रहीं जिनके चलते मजदूर जीतकर भी हारते गये। लड़कर भी उनके फौरी मसले हल न हुए उल्टा ऐसे समझौतों पर अन्त हुआ जो सरासर मजदूर विरोधी थे।

इनमें एक बात जो सामने आती है वो है—मजदूरों में राजनीतिक शिक्षा की कमी। क्योंकि "नेताजी जो कहते हैं, ठीक ही तो कहते हैं" वाली मनःस्थिति के कारण नेताजी जनता के प्रभाव से मुक्त मनमाने फैसले करने के लिए आजाद हो जाते हैं, जिससे फैसले के वक्त धोखेबाज नेताजी अपनी कारगुजारी दिखा देते हैं और मजबूर जनता देखती रह जाती है। यहाँ पर अधिकतर होने वाले फैसले फैक्ट्री मैनेजमेंट टेबल पर, मालिक के घर जैसी जगहों पर होते हैं, जिनमें आन्दोलनरत मजदूरों की किसी प्रकार की राय या भागीदारी नहीं होती, जिस वजह से मालिकों को अपनी मर्जी से समझौता करवाने का अवसर मिल जाता है। अगर देखा जाये तो संघर्ष सभी मजदूरों की साझी माँगों पर हो रहा तो सबसे पहले तो फैसला मजदूरों के सामने और उनकी सहमति से होना चाहिए। अगर ऐसा सम्भव न हो तो फैसले में मजदूरों की ज्यादा से ज्यादा भागीदारी के लिए मजदूरों में से प्रतिनिधि कमेटी का गठन होना चाहिए। तब ही इस बात से सम्भावना पैदा होती है कि फैसला मजदूरों की इच्छा मुताबिक हो। लेकिन लुधियाना में पिछले आन्दोलनों में फैसले के वक्त मजदूरों की भागीदारी नहीं थी। अगर थी तो न के बराबर रही, और उसका भी राजनीतिक चेतना की कमी के कारण कुशलतापूर्वक फायदा नहीं उठाया जा सका। आन्दोलन/संघर्ष मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा का स्कूल होते हैं, जिनमें वर्षों का ज्ञान महीनों में और महीनों का ज्ञान दिनों में हो जाता है लेकिन ऐसा तब ही हो सकता है जब संगठन या यूनियन कोशिश करे। लेकिन यहाँ कि मजदूर आन्दोलन पर हावी ट्रेड यूनियन नेताओं को तो यह बातें किसी काम की नहीं लगती बल्कि मजदूर जागरूक हो गये तो फिर उन्हें कौन सलाम करेगा?! इसलिए इनके द्वारा अगुवाई प्राप्त आन्दोलन राजनीतिक शिक्षा का नहीं सिर्फ नारे मारने और लड़ाई का केन्द्र बने रहते हैं।

इन सारी स्थिति में जो मुख्य बात है वो है नेतृत्व करने वाले संगठन की भावना कि वो किसके पक्ष में रही है। लुधियाना में पिछले समय के दौरान चले आन्दोलनों में ज्यादातर बड़े आन्दोलनों का नेतृत्व माकपा के मजदूर विंग सीटू के पास था जो अपनी मालिक-पूजा का शानदार नमूना लेकर पेश हुआ और वफादारी में फैक्ट्री के मालिकों के कुत्तों को भी पीछे छोड़ दिया। हीरो के जुझारू आन्दोलन में मजदूर जब खुद ही संघर्ष करना चाहते थे तो सीटू की तरफ से प्रशासन के विरोध में न जाने की नसीहत से धरना उठा दिया गया और मालिकों के लिए गेट छोड़ दिया गया। जिसके बाद पहले से भी ज्यादा नुकसान करवा कर मजदूरों को दुबारा काम पर भेज दिया गया। दूसरी फैक्ट्रियों के मजदूर काम बन्द कर संघर्ष कर रहे मजदूर साथियों का साथ देना चाहते थे लेकिन सीटू ने बहादुर मजदूरों को ऐसा करने से रोक दिया और बाकी मजदूरी संगठनों की अपील को भी नामंजूर कर दिया। यहाँ तक कि हीरो के सीटू सदस्यों को अन्य फैक्ट्रियों के मजदूरों और अन्य संगठन सदस्यों से सम्पर्क रखने से रोका गया। "बिगुल" को आरएसएस का पत्र कहकर मजदूरों को इसे पढ़ने से रोका गया। ऐसी हरकतों से सीटू का मजदूर विरोधी चरित्र साफ नजर आ रहा है। मजदूरों की माँगें तो मालिकों के खिलाफ होती हैं और उनकी तिजोरियों से विरोध रखती हैं इसलिए फैक्ट्री मालिकों के पुजारी इन संशोधनवादियों ने मालिकों के लिए कोई खतरनाक स्थिति पैदा होने से पहले ही मजदूरों को आगे बढ़ने से रोक दिया गया।

हीरो साइकिल इण्डस्ट्री में चले मजदूरों के जुझारू संघर्ष ने एक बार तो सारे औद्योगिक क्षेत्र को उत्साह से भर दिया। बड़ी दृढ़ता से मजदूरों ने दो-दो महीने तक धरने-प्रदर्शन जारी रखे। सारे क्षेत्र में हलचल हुई। लेकिन यह इकट्ठा ज्यादातर सीटू दफ्तर के पास व फैक्ट्री से दूर अन्य जगहों पर होते रहे जिस वजह से फैक्ट्री मालिकों और प्रशासन पर उचित दबाव नहीं बन सका और आन्दोलन लम्बा खिंचता गया। इस आन्दोलन, जिसका कारण जबर्दस्त निकाला जाना, गलत व्यवहार और श्रम कानूनों की धज्जियाँ उड़ाया जाना था, के आगे हीरो साइकिल इण्डस्ट्रीज के मालिक किसी प्रकार झुकने को तैयार नहीं थे। अप्रैल 2005 में हुई इस हड़ताल के समय सीटू नेताओं की गैरहाजरी में मजदूरों ने गेट जाम कर दिया और वो मरने-मारने के लिए तैयार हो गये। पुलिस पूरी तैयारी के साथ धरने को हटाने के लिए पहुँच गई लेकिन मजदूरों का गुस्सा देखकर उसका कार्रवाई करने का हौसला न बन सका। दूसरे दिन जब सीटू नेता आये तो आते ही गेट खाली करके, फैक्ट्री गेट के सामने से निकलते जी.टी. रोड की दूसरी तरफ धरना लगाने के लिए कहने लगे। मजदूरों ने इस पर सवाल उठाये क्योंकि कुछ पुराने मजदूर जानते थे कि जब तक फैक्ट्री गेट जाम रहता है मालिक के ऊपर उतना ही दबाव बना रहेगा। धरना उठाये जाने के बाद मजदूर सड़क के दूसरी तरफ बैठे नारेबाजी करते रहे और मालिकों ने बाहर से मजदूरों का बन्दोबस्त करके काम जारी रखा। इससे आन्दोलनकारी मजदूर भड़क उठे और काम पर आने वालों को रोकना शुरू कर दिया। अन्य फैक्ट्री मजदूरों ने भी धरने में आना शुरू कर दिया। कई स्थानीय मजदूर संगठनों के साथ मिलकर मशाल मार्च किया गया। लेकिन सीटू ने आन्दोलनकर्ताओं को न तो बाहर से आये मजदूरों से मिलने दिया और अन्य संगठनों का सहयोग लेने से भी साफ इंकार कर दिया। अगर कोई मजदूर संगठन सहयोग करने की पेशकश करता है इसमें तो खुशी की बात होनी चाहिये क्योंकि इससे आन्दोलन की ताकत बढ़ती है। लेकिन सीटू नेताओं को क्या आपत्ति हुई? उनकी यह कार्रवाई यकीनन तौर पर सन्देहजनक थी। कई दिन ऐसे ही धरना चलने के बाद जो फैसला हुआ उसमें मुख्य तौर पर एक नेताजी और उनके एक-दो आदमी थे। फैसला लगभग मालिकों के पक्ष में हुआ और कोई महत्वपूर्ण माँग नहीं मानी गई। बाहर निकाले गये मजदूर (जिनके कारण संघर्ष शुरू हुआ) वापस नहीं लिये गये बल्कि हड़ताल के दौरान जिन पर मारपीट के केस बनाये गये उनको भी नौकरी से निकाल दिया गया। जब फैसला हुआ, पहले तो रात को सीटू नेताओं द्वारा मजदूरों को धरने वाली जगह से टेंट हटाने के लिए कहा गया और बाद में सुबह फैसला बताया गया। सभी मजदूर हैरान थे। सीटू ने बड़ी कुशलतापूर्वक मजदूरों की एकता को तोड़ते हुए आन्दोलनकारियों को अहसाय बना दिया।

के. डब्ल्यू साइकिल इण्डस्ट्री में चले लम्बे आन्दोलन की कहानी भी कुछ ऐसी ही थी क्योंकि धरना लगाने के समय, मजदूरों का धरना गेट की बजाए दूर सड़क की दूसरी तरफ लगवाया गया जिस कारण फैक्ट्री चलती रही। बाहर से कैंटरों में भर कर मजदूरों को लाया गया। हालाँकि अकुशल मजदूर काम कम करके देते थे लेकिन फिर भी मालिक ने आन्दोलन को हराने के लिए अपनी यह कार्रवाई जारी रखी। कुछ दिनों के बाद सीटू नेता ने धरना गेट के सामने से 100 गज दूर लगाने के लिए कहा। इस पर मजदूरों ने स्थिति हीरो जैसी बनती देखकर विरोध किया। इस पर सीटू नेता ने कहा कि अगर नहीं मानना हो तो आन्दोलन खुद ही लड़ लो। किसी और संगठन के न होने के चलते मजदूरों को "नेताजी" का कहना मानना पड़ा। इसका अन्त भी हीरो की तरह ही फैसला मालिक के पक्ष में होने में हुआ। मजदूरों को हार कर काम पर जाना पड़ा और निराशा झेलनी पड़ी।

एवन साइकिल इण्डस्ट्रीज में भी 16 जून 2005 को हुई हड़ताल का कारण मजदूरों के एक प्रतिनिधि के फैक्ट्री से निकाला जाना था जिस पर मजदूरों ने काम बन्द कर दिया। मालिकों की तरफ से पुलिस की वर्दी में गुण्डों से मजदूरों की पिटाई करवाई गई और कुछ मजदूरों पर केस भी बनवाये गये। इस पर सीटू ने धारा 144 का डर देकर मजदूरों को धरना-प्रदर्शन करने से रोका। फैक्ट्री कुछ दिनों के लिए बन्द रही। 31 जून को हुये समझौते के बाद जब काम शुरू हुआ तो मजदूरों का "स्टाफ" के साथ झगड़ा हो गया। काम फिर बन्द कर दिया गया। इसके बाद संगठित संघर्ष की कमी से कुछ वर्कर तो मालिकों की शर्तों पर काम करने के लिए वापस आ गये और कुछ सीटू के जरिये केस द्वारा हिसाब करके घर चले गये।

3 नवम्बर 2005 को हाईवे और रॉकमैन के साइकिल 402 डिपार्टमेंट बंद करने का मुख्य कारण मजदूरों की एकता और मजदूर यूनियन की रजिस्ट्रेशन होना था। 4 नवम्बर 2005 को साइकिल इण्डस्ट्री की चार फैक्ट्रियों की यूनियन की रजिस्ट्रेशन हुई थी। इनमें हीरो, मंगली यूनिट, रॉकमैन और हाइवे शामिल थे। 3 नवम्बर, 2005 को हीरो की दो सहायक यूनिटों हाइवे और रॉकमैन के साइकिल पार्ट्स बनाने वाले डिपार्टमेंट बन्द कर दिये गये जिस कारण लगभग 1550 मजदूरों को सड़क पर फेंक दिया गया। इनमें से ज्यादातर मजदूर काफी लम्बे समय से इन यूनिटों में काम कर रहे थे। निकाले जाने पर सभी मजदूर लड़ाई के मूड में थे लेकिन सीटू नेताओं ने शान्तिपूर्ण संघर्ष की वचनबद्धता प्रकट करते हुए मामला अदालत द्वारा हल करने का विश्वास दिलाया और तो और सीटू नेता रघुनाथ ने तो मजदूरों को फैक्ट्री का फिक्र छोड़ (क्योंकि केस वो खुद ही लड़ लेंगे!) राशनकार्ड और पहचानपत्र बनाने के लिए प्रशासन का घिराव करने की नसीहत दी और लगातार दो महीने से ज्यादा समय तक चले इस धरने के बाद सीटू ने मजदूरों को कहीं और काम ढूँढ़ने की सलाह दे डाली। सही नेतृत्व की गैरहाजरी में, लड़ने के लिए तैयार मजदूर संघर्ष को ढंग से लड़ने और जीतने में असमर्थ रहे। इस समय के दौरान बाकी फैक्ट्रियों के मजदूर शिफ्ट बदलने के समय संघर्षशील मजदूरों से मिलकर जाते थे। इन लड़ रहे मजदूरों की खातिर वो सभी काम बन्द करने के लिए तैयार थे लेकिन सीटू ने अपने दोगले चरित्र के कारण उन्हें ऐसा करने से मना कर दिया।

बजाज सन्स की पाँच और सहायक यूनिटों को मिलाकर लगभग 7,000 मजदूर इसमें काम करते हैं। दिसम्बर 2005 में हुई हड़ताल का कारण मजदूरों के तीन नेताओं को फैक्ट्री से निकालना था जिस पर बजाज सन्स की सभी फैक्ट्रियों के मजदूरों को डराने के लिए कमांडो बुलाई गई लेकिन मजदूरों के गुस्से और एकता को देखते हुए कमांडो फोर्स कुछ कर न सकी। इसी समय सीटू को आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए बुलाया गया। यहाँ मजदूरों के संगठित दबाव के चलते निकाले गये प्रतिनिधि मजदूर साथियों को काम पर वापस ले लिया गया। सभी डिपार्टमेंट में से एक-दो प्रधान चुनकर प्रतिनिधिमण्डल बनाया गया जिसने कि अहम मद्दों/मसलों पर मैनेजमेंट के साथ बातचीत करनी थी। इससे वर्करों की छोटी-छोटी माँगे मानी भी गई। लेकिन इसके बाद मजदूरों में दो तरह के विचार पाये गये। एक तरफ तो वो थे जो सीटू के नेताओं की केन्द्र में सरकार में हिस्सेदारी होने से इस भ्रम में थे कि यही संगठन उन्हें उनके अधिकार दिलवा सकता है। एक छोटा धड़ा ऐसे मजदूरों का था जो पिछले आन्दोलनों का सबक निकाल चुके थे और काफी पुराने मजदूर थे। वो सीटू के पिछले आन्दोलन में मालिक-पूजा और मजदूर विरोधी पैतरे से सचेत थे। कुछ दिनों बाद एक मजदूर के गायब हो जाने पर मजदूरों ने मैनेजमेंट से जवाब माँगा लेकिन जवाब न मिलने पर काम बन्द कर दिया गया। मैनेजर ने फोन करके सीटू नेता को बुलाया। उसने आते ही काम चालू करने का फरमान जारी किया। मजदूरों द्वारा मना किये जाने पर केस बनाये जाने का डर भी दिया। लेकिन उस दिन मजदूर फैक्ट्री नहीं गये। दो दिन बाद गुम हुआ मजदूर मिल गया। कुछ दिनों बाद मजदूरों ने इस सीटू नेता को फैक्ट्री के प्रोडक्शन मैनेजर के साथ एक होटल में पकोड़े खाते हुए देखा। जिस पर मजदूर काफी सन्देह में आ गये और नेता का और सीटू का विरोध करने वालों की गिनती में इजाफा हुआ।

सीटू नेताओं ने एवन साइकिल इण्डस्ट्री में चले आन्दोलन के समय जो फैक्ट्री से जबर्दस्ती निकाले जाने के ही विरुद्ध था, अपनी मालिक-पूजा का सबूत देते हुये घोर मजदूर विरोधी फैसला करवाया जो शायद मजदूर

पेज 7 पर जारी

अब दिल्ली में होगा पानी का निजीकरण

मुनाफ़ा और सिर्फ़ मुनाफ़ा ही बुर्जुआ वर्ग का एकमात्र लक्ष्य होता है। इसके लिए वो उन सभी क्षेत्रों को हर वक्त ढूँढ़ता रहता है जहाँ से उसे मुनाफ़ा हासिल हो। जब किसी एक उद्योग में वो एक सम्भव हद तक मुनाफ़ा कमा लेता है और उसमें और मुनाफ़े की गुंजाइश न हो तो वो निवेश की नई सम्भावनाओं में जुट जाता है। इसके लिए जहाँ वो मोटी रकमें देकर चिन्तकों और विशेषज्ञों को खरीद लेता है वहीं अलग-अलग संस्थाओं द्वारा भी अपने मन्सूबों की पूर्ति करता है। पूँजीपतियों की बेशर्मी का अन्दाज़ा इस बात से चल जाता है कि वो मुनाफ़ा कमाने के लिए जन-सेवा, जनता को सुविधाएँ देना या गरीबों की मदद की आड़ लेते हैं।

अब एक बार फिर पूँजीपतियों के दिल 'जनता की सेवा' के लिए मचल रहे हैं। अब उन्हें इस बात की चिन्ता है कि दिल्ली वासियों को सप्ताह के सात दिन 24 घण्टे पानी नहीं मिलता और जो मिलता है वो साफ नहीं होता, अच्छी क्वालिटी का नहीं होता। विश्व बैंक का मानना है कि दिल्ली निवासियों को यह सारी सुविधाएँ देने के लिए जरूरी है कि पानी का निजीकरण हो। भारत उन 10 देशों में से एक है जिनमें पानी को लेकर बना विश्व बैंक का एजेण्डा लागू होगा। इसके तहत दिल्ली में 2010 तक और 2020 तक पूरे भारत में पानी के निजीकरण का काम पूरा हो जाएगा। पहले दौर में दो जोन में यह लागू होगा और वहाँ के अनुभवों से सबक लेकर बाकी दिल्ली में लागू होगा।

विश्व बैंक के अधिकारियों ने 1992 में यह योजना वाशिंगटन में बनाई थी। तब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लगा कि पानी एक ऐसा सेक्टर है जहाँ वे निवेश कर सकती हैं और भारी मुनाफ़ा कमा सकते हैं। लोगों को

ज्यादा पानी मुहैया कराने और पानी की क्वालिटी में सुधार करने के नाम पर पूँजीपतियों का ये एजेण्डा विश्व बैंक द्वारा अपने सदस्य देशों को अपनी शर्तें मनवाकर लागू किया जा रहा है। विश्व बैंक ने इसे दिल्ली जल बोर्ड का निजीकरण मानने से इनकार किया है लेकिन पानी सेक्टर को निजी हाथों में सौंपने से दिल्ली जल बोर्ड के हज़ारों कर्मचारियों पर गिरने वाली बिजली के बारे में कुछ स्पष्ट नहीं किया। साथ ही विश्व बैंक द्वारा यह भी सलाह दी गई है कि दिल्ली में पानी की कीमतों में तुरन्त 30 प्रतिशत बढ़ोत्तरी की जाए। विश्व बैंक की यह सिफारिश खुद ही विश्व बैंक की इस दलील को रद्द कर देती है कि वो गरीबों तक भी अच्छी क्वालिटी वाला पानी पहुँचाना चाहता है। लगातार महँगी होती जा रही ज़िन्दगी की बुनियादी जरूरतों की मार पहले ही सबसे ज्यादा मज़दूरों को झेलनी पड़ रही है, अब विश्व बैंक मज़दूरों से पीने वाला पानी भी छीन लेना चाहता है। इसके साथ ही माँग-आपूर्ति के संतुलन को देखकर पानी के दामों में हर वर्ष बढ़ोत्तरी की सिफारिश भी विश्व बैंक द्वारा की गई है। हम देख सकते हैं कि कितनी आसानी से बुर्जुआ वर्ग मानवद्रोही कामों को अंजाम देता है लेकिन फिर भी मानवीयता का लिबास पहन लेता है।

इससे पहले पानी के निजीकरण की शुरुआत लातिनी अमेरिकी देशों से की गई थी। चिली और मैक्सिको में तो इसका कुछ खास विरोध नहीं हुआ लेकिन सन 2000 में बोलीविया में उठे जन-संघर्षों को देखकर विश्व बैंक को बोलीविया के पानी से अपने हाथ पीछे खींचने पड़े थे। लेकिन जनता की बुनियादी जरूरतें सिर्फ़ समाजवाद में ही पूरी हो सकती हैं। असल लड़ाई पूरे के पूरे पूँजीवादी निज़ाम के विरुद्ध है न कि सिर्फ़ एक या दूसरे सेक्टर के होने वाले निजीकरण के विरुद्ध। निजीकरण के विरुद्ध होने वाले संघर्ष भी सर्वहारा वर्ग की राजनीति के अधीन ही होने चाहिए क्योंकि पूँजीवाद ही निजीकरण के लिए आधार मुहैया कराता है। इसका एकमात्र हल निजी-स्वामित्व का खात्मा ही है जिसे सिर्फ़ और सिर्फ़ सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में ही अंजाम दिया जा सकता है।

—नवकाश दीप

बेरोजगारों का आक्रोश दुःस्वप्न बनकर सता रहा है पूँजीपतियों को

बिगुल संवाददाता

दिल्ली। पिछले दिनों देश के पूँजीपतियों की एक शीर्ष संस्था 'एसोसिएट चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स' (एसोचैम) ने अपनी एक सर्वेक्षण रिपोर्ट में देश में बढ़ती बेरोजगारी पर गहरी चिन्ता जतायी है। 'जी डी पी (सकल घरेलू उत्पाद) और रोजगार में सम्बन्ध' विषय पर जारी एक अध्ययन में यह सच्चाई छुपाये न छुप सकी कि देश में विकास दर तो बढ़ रही है लेकिन रोजगार घट रहे हैं।

एसोचैम के अध्ययन के अनुसार 1998-2003 के पाँच वर्षों के दौरान देश के जी डी पी में औसतन 5.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई है लेकिन इसी अवधि में संगठित क्षेत्र में रोजगार में 4.14 प्रतिशत की गिरावट आयी है। रिपोर्ट में बुझे मन से यह भी स्वीकार करना पड़ा है कि 1991 में नयी आर्थिक नीतियाँ लागू होने के बाद से देश में विदेशी निवेश तो खूब आया है लेकिन उस अनुपात में रोजगार नहीं बढ़ सका है। रिपोर्ट में यह भी स्वीकार किया गया है कि कई औद्योगिक इकाइयाँ वैश्विक होड़ का सामना नहीं कर सकीं और वे बन्द हो गयीं। रिपोर्ट में रोजगार में कमी के कारणों की चर्चा भी है। इसके अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र में स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना शुरू करने, कम्पनियों द्वारा लागत करने पर जोर और आउटसोर्सिंग की प्रवृत्ति के कारण रोजगार में कमी आयी है।

सोचने की बात है कि पूँजीपतियों की संस्था उस आर्थिक नीति की असलियत लोगों के सामने खोलकर क्यों रख रही हैं जिसे उनकी मर्जी से ही लागू किया जा रहा है और जिसे जारी रखने के लिए वे खुद सरकार पर लगातार दबाव बनाये रखते हैं। क्या बेरोजगारों की पीड़ा अचानक पूँजीपतियों को सताने लगी है? कतई नहीं! दरअसल, बेरोजगारों की लगातार बढ़ती फ़ौज पूँजीपतियों को दुःस्वप्न बनकर सता रही है। अपना मुनाफ़ा लगातार बढ़ाते जाने के अलावा उनकी प्रमुख चिन्ता अब यह होती जा रही है कि उनकी सोने की लंका को बेरोजगारों के गुस्से की आग से बचाने के क्या इन्तज़ाम किये जायें। पूँजीपतियों के दिलों में इसका खौफ कितना गहरा है इसका अन्दाज़ा इसी एक तथ्य से लगाया जा सकता है कि देश के चोटी के पूँजीपतियों में एक रतन टाटा पिछले दिनों विदेश यात्रा पर गये तो एक सभा में उन्होंने भी भारत में बढ़ती बेरोजगारी पर काफी चिन्ता प्रकट की थी।

जब पूँजीपति आका चिन्तित तो भला उनके टुकड़ों पर पलने वाले राजनीतिक नमाइन्दों का भी चिन्तित हो उठना बहद लाज़िमी है। यह अनायास नहीं है कि तमाम चुनावबाज पार्टियों के नेता इन दिनों बेरोजगारी पर लगातार चिन्ताएँ प्रकट कर रहे हैं और उन्हें भरमाने के लिए तरह-तरह के जाल बुनने में जुट गये हैं। कहीं बेरोजगारी भत्ते का टुकड़ा फेंका जा रहा है तो कहीं आरक्षण का शगूफा उछालकर नौजवानों की एकजुटता को तोड़ा जा रहा है। वी.पी. सिंह जैसे चुनावी पाखण्ड के सरदार भी अपनी रोगशय्या पर लेटे-लेटे बेरोजगारों को भरमाने की नयी-नयी तरकीबें गढ़ रहे हैं। लेकिन पूँजीपति और उनके वफादार राजनीतिक चाकर लाख मशक्कतें कर लें आने वाले दिनों में लूट के किलों पर बेरोजगारों की फौज की बिजली गिरकर रहेगी।

कास्त्रो की बीमारी से क्यों खुश है अमेरिकी साम्राज्यवादी लुटेरे?

क्यूबा के राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो अपनी बीमारी के संकटकालीन दौर से गुज़र रहे हैं। (अभी पिछले दिनों उनकी आँतों की संजरी हुई थी) उन्होंने अपना इलाज कराने के लिए कुछ समय के लिए राजकीय कार्यों से छुट्टी ले ली है। इस दौरान राज्य का नेतृत्व उनके छोटे भाई और क्यूबाई क्रान्ति के सहयोद्धा सम्भाल रहे हैं। कास्त्रो की बीमारी की खबर मिलते ही कास्त्रो शासन को नेस्तनाबूद करने की वर्षों से आस लगाये बैठा अमेरिकी साम्राज्यवाद आज खुशी से लहालोट हो रहा है और क्यूबा में मौजूदा शासन को उखाड़ फेंकने के लिए अपनी धुसपैठ बनाने की तमाम तीन-तिकड़मों में जुट गया है। अमेरिकी अखबार व टेलीविजन फिदेल कास्त्रो के अन्त की रिपोर्टिंग करने में बेदम हुए जा रहे हैं। और क्यूबा के प्रतिक्रियावादी तत्वों की क्यूबा के पुराने दिनों की फिर से बहाली के लिए उकसाया-ललकारा जा रहा है। लुटेरों के सरगना जार्ज बुश का अभी हाल ही में एक बयान आया है कि क्यूबा में जनवाद आधारित शासन कायम करने के लिए जो लोग अन्तरिम सरकार बनाने में लगे हुए हैं, अमेरिका उनकी मदद करेगा। पूछा जाना चाहिए कि क्यूबा की जनता के लिए क्या यह वैसा ही जनवाद होगा जैसा कि इराकियों को बुश प्रशासन से मिला है।

दरअसल क्यूबा 1959 के समय से ही अमेरिकी सरकार की आँखों की किरकिरी बना हुआ है। उस समय फिदेल कास्त्रो ने साम्राज्यविरोधी संघर्ष में जनता की अगुवाई की थी और अमेरिका को यह दिखा दिया था कि क्यूबा उसके बाप की जागीर नहीं है। सत्ता में आने के बाद फिदेल कास्त्रो की सरकार ने सभी अमेरिकी परिसम्पत्तियों और उद्यमों का राष्ट्रीयकरण कर दिया था। और इसके साथ ही लैटिन अमेरिका के दूसरे देशों में यह उम्मीद जगा दी कि वे भी साम्राज्यवादी शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ सफलतापूर्वक जंग लड़ सकते हैं और इन रक्त चूसने वालों को अपने देश से बाहर खदेड़ सकते हैं। जाहिर है अपनी सर्वश्रेष्ठता के दम्भ में चूर अमेरिकी साम्राज्यवाद का भला यह कैसे बर्दाश्त होता। वह सालोंसाल तक फिदेल कास्त्रो के शासन को खत्म करने की साजिशें रचता रहा। कभी क्यूबा पर आक्रमण कर, कभी नाकेबन्दी कर, कभी जासूसों का जाल बिछाकर, कभी देशद्रोहियों को लालच देकर और कभी फिदेल कास्त्रो पर कई-कई बार सीधे हमला कर। पर समाज सुधारों के जरिये जनता में एक हद तक खुशहाली लाकर फिदेल कास्त्रो ने क्यूबाई समाज में जो लोकप्रियता हासिल की है उससे अमेरिका अपनी मंशा में कभी कामयाब नहीं हो सका।

ऐसा भी नहीं है कि क्यूबा कोई समाजवादी देश है या फिदेल कास्त्रो उत्पादन-सम्बन्धों को बदलने वाले किसी सामाजिक क्रान्ति के नेता या कम्युनिस्ट हैं फिर भी अपनी साम्राज्यविरोधी नीतियों और अमेरिकी ताकत को चुनौती देने के चलते फिदेल कास्त्रो अमेरिका की आँखों में हमेशा खटकते रहें। उन्होंने न केवल अमेरिकी विदेशी नीति का लगातार तीखा विरोध किया बल्कि उसकी धौंस भी मानने से इंकार कर दिया है। ऐसे वक्त, जब कि अमेरिका अपनी नीतियों के विरोधी कमजोर देशों को युद्ध की आग में झोंक रहा है और पूरी दुनिया को धमका रहा है कि अगर वे उसके समर्थन में नहीं खड़े हैं तो उसके विरोधी हैं, कास्त्रो का लैटिन अमेरिकी देशों के अमेरिकी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों का समर्थन अमेरिकी आकाओं के गुस्से को और भड़का रहा है।

अमेरिकी प्रशासन अब और जोर-शोर से क्यूबा को 'मुक्त' कराने में जुट गया है। बुश प्रशासन ने 2003 में विदेश मंत्री कोंडोलिजा राइस की अध्यक्षता में मुक्त क्यूबा के निर्माण में सहायता के लिए एक आयोग गठित किया है। 2004 में आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर यह सुझाव दिया कि क्यूबा में सत्ता परिवर्तन के मकसद से अमेरिका के लिए कौन से कदम उठाने आवश्यक होंगे। अभी पिछले माह की रिपोर्ट में 80 मिलियन डालर की एक रकम प्रस्तावित की गई थी जिसे क्यूबा की मुक्ति के बाद अन्तरिम सरकार बनाने के लिए विरोधी पक्षों और अमेरिकी सहायता एजेन्सी को मदद पहुँचाने में खर्च होना है। इतना ही नहीं कास्त्रो शासन के अन्त को और निकट लाने की जरूरी कार्रवाइयों को अंजाम देने के लिए राइस ने एक नया पद भी सृजित किया है।

अब जबकि कास्त्रो अस्पताल में भर्ती हैं अमेरिका अपनी कारगुजारियों में लग गया है। अभी तक क्यूबा के अंगूर उसके लिए खट्टे थे और यह खट्टा अंगूर भी उसे नसीब नहीं था। परन्तु अब उसने यह ख्याली पुलाव बनाना शुरू कर दिया है कि पका अंगूर बस उसके मुँह में टपकने ही वाला है। उसने घोषित रूप से यह कहना शुरू कर दिया है कि कास्त्रो की मौत के बाद क्यूबा के पुनर्गठन में उसकी सक्रिय भागीदारी होगी और जो विरोधी तत्व इसके आड़े आयेंगे उनकी कसकर खबर ली जायेगी। वह क्यूबा को फिर एक बार अपने चंगुल में लेने के मंसूबे बाँध रहा है। उसकी निगाहें क्यूबा के संसाधनों और सस्ते श्रम शक्ति पर टिकी है।

बुश प्रशासन ने मीडिया के जरिये झूठ का अम्बार खड़ा करके क्यूबा की जनता को बरगलाने-फुसलाने का काम शुरू कर दिया है। वहाँ के प्रतिक्रियावादी तत्वों को सत्ता और सुविधाओं का लालच देकर कास्त्रो शासन की ज्यादतियों और क्रूरताओं का बखान करने के लिए तैयार किया जा रहा है। यह कोई नयी बात नहीं है। साम्राज्यवादी ताकतों ने हमेशा ही झूठ और फरेब का सहारा लिया है जाहिर है शिकार करने से लाचार यह बूढ़ा बाघ अब तरह-तरह के छल-प्रपंच रचकर ही तो शिकारों को अपनी माँद तक लायेगा। लेकिन हर देश की जनता की तरह क्यूबाई जनता भी माँद तक जाने वाले कदमों के निशान के बीच लौटने वाले कदमों की गैरमौजूदगी को ढूँढ़ लेगी तब वह न सिर्फ़ सतर्क और सचेत होगी बल्कि उसकी खात्मे की योजना को अपने हाथ में लेगी।

—सुजाता

अन्तराष्ट्रीय मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी नेता और शिक्षक माओ त्से-तुङ की 30वीं पुण्यतिथि (9 सितम्बर) के अवसर पर

हमारे समय के माथे पर चमकता लाल निशान

माओ त्से-तुङ

महान क्रान्तिकारियों की स्मृतियाँ परिवर्तन चाहने वाली जनता के लिए प्रेरणास्रोत होती हैं और इतिहास का रास्ता रोके खड़ी हुकूमतों जमातों के लिए दुःस्वप्न। चीन ही नहीं वरन समूची दुनिया की मेहनतकश जनता को हर प्रकार के शोषण-उत्पीड़न से सम्पूर्ण मुक्ति की राह दिखाने वाले माओ त्से-तुङ की स्मृतियों के साथ भी यही हो रहा है। एक ओर जहाँ दुनिया भर की मुक्तिकामी जनता माओ को याद करते हुए उनके विचारों की रोशनी में अपने संघर्ष के रास्ते और लक्ष्यों की नये सिरे से पहचान कर रही है वहीं दुनिया भर की लुटेरी हुकूमती जमातों के बीच तरह-तरह के झूठे-बेसिर पैर के किस्से-कहानियाँ प्रचारित करने और उनके विचारों को तोड़ मरोड़कर पेश करने की होड़ मची हुई है। कलम की वेश्यावृत्ति करने वाले कुछेक कथित बुद्धिजीवी माओ के जीवन पर आधारित ''सनसनीखेज रहस्योद्घाटनों'' से भरी किताबें लिख रहे हैं। यह सब कुछ इसलिए क्योंकि देहावसान के तीस साल बाद भी पूँजीवादी साम्राज्यवादी जमातों को माओ का भूत लगातार सता रहा है।

अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले माओ ने कहा था कि अगर चीन में पूँजीवादी-संशोधनवादी सत्ता में आ जाते हैं तो एक दिन भी वे चैन से नहीं बैठेंगे। माओ की यह भविष्यवाणी शतप्रतिशत सही साबित हुई। चीन देङ गिरोह और उसके वारिसों को माओ की मृत्यु के बाद एक पल भी चैन नसीब नहीं हुआ। षड्यंत्र और प्रतिक्रान्तिकारी तख्तापलट के जरिये देङ गिरोह ने भले ही सत्ता हथिया ली, सर्वहारा के अधिनायकत्व को पूँजीवादी अधिनायकत्व में तब्दील कर दिया और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के बारे में कुत्सा प्रचारों की आँधी चला दी लेकिन माओ और उनके समाजवादी रास्ते को चीनी मेहनतकश अवाम की स्मृतियों से मिटाया नहीं जा सका। आज न केवल माओ चीन के समाजवादी निर्माण की भागीदार और साक्षी रही बुजुर्ग पीढ़ी वरन ''समाजवादी बाजार'' व्यवस्था में पली-बढ़ी नयी पीढ़ी भी नये सिरे से माओ के विचारों की रोशनी में चीन के भविष्य के रास्ते को पहचान रही है और एक नयी क्रान्ति का ताना-बाना बुन रही है। पिछले दिनों इस सम्बन्ध में अमेरिका और यूरोप के कई राजनीतिक प्रेक्षकों ने चीन की नयी बाजार व्यवस्था में मेहनतकश आबादी की तबाही के समुद्र में खड़े हो रहे समृद्धि के टापुओं के बारे में तथ्यपरक रिपोर्टें प्रकाशित करते हुए लिखा है कि वहाँ माओ के समाजवादी रास्ते के बारे में एक नयी दिलचस्पी पैदा हुई है।

माओ त्से-तुङ सिर्फ चीन के लम्बे क्रान्तिकारी संघर्ष के बाद लोक गणराज्य के संस्थापक और समाजवाद के निर्माता ही नहीं थे बल्कि मार्क्स और लेनिन के बाद वे सर्वहारा क्रान्ति के सबसे बड़े सिद्धान्तकार और हमारे समय पर अमिट छाप छोड़ने वाले क्रान्तिकारी थे।

माओ त्से-तुङ ने चीन में रूस से अलग समाजवाद के निर्माण की नई राह चुनी और उद्योगों के साथ ही कृषि के समाजवादी विकास पर तथा गाँवों और शहरों का अन्तर मिटाने पर भी विशेष ध्यान दिया। आम जन की सर्जनात्मकता और पहलकदमी के दम पर बिना किसी बाहरी मदद के साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के बीच उन्होंने अकाल, भुखमरी और अफीमचियों के देश चीन में विज्ञान और तकनोलाजी के विकास के नये कीर्तिमान स्थापित कर दिये, शिक्षा और स्वास्थ्य को समान रूप से सर्वसुलभ बना दिया, उद्योगों के निजी स्वामित्व को समाप्त करके उन्हें सर्वहारा राज्य के स्वामित्व में सौंप दिया और कृषि के क्षेत्र में कम्यूनों की स्थापना की। इस अभूतपूर्व सामाजिक प्रगति से चकित-विस्मित पश्चिमी अध्येताओं तक ने चीन की सामाजिक-आर्थिक प्रगति और समतामूलक सामाजिक ढाँचे पर सैकड़ों पुस्तकें लिखीं।

स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में जब ख्रुश्चेव के नेतृत्व में एक नये किस्म का पूँजीपति वर्ग सत्तासीन हो गया तो उसके नकली कम्युनिज्म के खिलाफ संघर्ष चलाते हुए माओ ने मार्क्सवाद को और आगे विकसित किया। पहली बार माओ ने रूस और चीन के अनुभवों के आधार पर यह स्पष्ट किया कि समाजवाद के भीतर से पैदा होने वाले पूँजीवादी तत्व किस प्रकार मजबूत होकर सत्ता पर कब्जा कर लेते हैं। उन्होंने इन तत्वों के पैदा होने के आधारों को नष्ट करने के लिए सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और चीन में 1966 से 1976 तक इसे सामाजिक प्रयोग में भी उतारा। यह आज माओ त्से-तुङ का महानतम सैद्धान्तिक अवदान माना जाता है।

1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन में भी देङ सियाओ पिङ के नेतृत्व में पूँजीवादी पथगामी सत्ता पर काबिज होने में कामयाब हो गये, क्योंकि पिछड़े हुए चीनी समाज के छोटी-छोटी निजी मिल्कियतों वाले ढाँचे में समाजवाद के आने के बाद भी पूँजीवाद का मजबूत आधार और बीज मौजूद था। लेकिन आज चीन के नये पूँजीवादी सत्ताधारी 30 वर्षों बाद भी चैन की साँस नहीं ले सके हैं। माओ ने इसकी भविष्यवाणी पहले ही कर दी थी। आज माओ की विरासत को लेकर आगे बढ़ने वाले लोग न केवल चीन में बल्कि रूस और पूर्वी यूरोप के देशों में भी मौजूद हैं और समाजवाद के लिए नये सिरे से संघर्षों की तैयारी कर रहे हैं।

इतना ही नहीं, लातिन अमेरिका के पेरू, कोलंबिया, चिली से लेकर तुर्की, ईरान, फिलीपीन्स, बांग्लादेश और भारत तक में माओ त्से-तुङ की क्रान्तिकारी विचारधारा में था रखने आस्वाले अनगिनत छोटे-बड़े संगठन और पार्टियों मौजूद हैं। आज साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के नये दौर की सर्वहारा क्रान्तियों का नेतृत्वकारी केन्द्र इन्हीं के बीच से उभरेगा, इतिहास का यही संकेत है। नेपाल में माओवादियों ने पिछले दस वर्षों में अपने नेतृत्व में जो क्रान्तिकारी संघर्ष शुरू किया था उसके आघातों ने नेपाली प्रतिक्रियावादी राजशाही को पीछे हटने पर मजबूत कर दिया है और अब उसके इतिहास की कूड़ेदानी में फेंक दिये जाने की औपचारिकता मात्र बची हुई है।

माओ त्से-तुङ के सैद्धान्तिक विचारधारात्मक अवदानों की अहमियत को इसी बात से समझा जा सकता है कि सर्वहारा वर्ग का जो कोई भी संगठन उसे अच्छी तरह आत्मसात नहीं कर सकेगा वह एक सच्ची क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी के निर्माण और गठन के कार्यभारों को भी सफलतापूर्वक अंजाम नहीं दे सकता। आज भले ही एशिया-अफ्रीका-लातिनी अमेरिका के अधिकांश देशों में पूँजीवादी विकास के कारण समाजवादी क्रान्ति की मंजिल आ चुकी है और इन क्रान्तियों की आम रणनीति और रणकौशल के सम्बन्ध में चीनी नवजनवादी क्रान्ति का अन्धानुकरण नहीं किया जा सकता लेकिन जहाँ तक क्रान्ति के विचारधारात्मक पथप्रदर्शन का सवाल माओ के अवदानों की अनदेखी करना क्रान्ति को असम्भव बना देगा। सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता पर काबिज होने के बाद समाजवाद से कम्युनिज्म की लम्बी यात्रा के दौरान माओ द्वारा प्रस्तुत सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त और व्यवहार ही आम दिशा का निर्धारण कर सकते हैं। इसकी अनदेखी कर पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का मुकाबला करना असम्भव होगा। हम कह सकते हैं माओ के अवदान युगपरिवर्तनकारी हैं। यही कारण है कि आज भी दुनिया के पूँजीवादी-साम्राज्यवादी हुक्मरान माओ को बदनाम करने और उनकी स्मृतियों को दुनिया की मेहनतकश जनता के दिलो-दिमाग से मिटाने की हास्यास्पद कवायदों में लगातार जुटे रहते हैं। लेकिन उनकी ये कवायदें सूरज पर थूकने जैसी ही हो सकती हैं। माओ त्से-तुङ इक्कीसवीं सदी के माथे पर भी लाल निशान बन कर चमकते रहेंगे।

चमकदार रंगरोगन के पीछे छिपा अमरीकी जनवाद का कुरूप चेहरा

अमरीकी जनवाद का चिकना चेहरा वास्तव में रंग-रोगन की तहों के नीचे कितना कुरूप और घिनौना है इसका खुलासा किया है, उसके किसी दुश्मन देश ने नहीं, बल्कि खुद उस देश का नागरिक और निवासी एक अमरीकी पत्रकार ने। एक प्रतिष्ठित समाचार-पत्र से जुड़े उस अमरीकी पत्रकार ने अपने हालिया बयान में यह राजफाश किया कि अमरीकी प्रशासन किस प्रकार पत्रकारों के फोन से होने वाली बातचीत का पूरा ब्यौरा दर्ज करता है। उसने नौकरशाही से जुड़े कुछ उच्च अधिकारियों से प्राप्त गुप्त सूचनाओं के आधार पर बताया कि अमरीकी खुफिया विभाग (एफ.बी.आई.) का कोई एजेण्ट एक राष्ट्रीय सुरक्षा पत्र के हवाले से किसी भी टेलीफोन कम्पनी से यह माँग करता है कि वह अपने अमुक ग्राहक की टेलीफोन पर हुए बातचीत का पूरा विवरण उसे सौंप दे और उसके साथ ही यह चेतावनी भी संलग्न होती है कि सरकार द्वारा माँगी गयी इस सूचना की जानकारी सम्बन्धित ग्राहक को नहीं होनी चाहिए। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार सिर्फ 2005 में ही एफ.बी.आई. के 9,254 'राष्ट्रीय सुरक्षा पत्रों' के जरिये लगभग 3800 अमरीकी नागरिकों पर निशाना साधा गया।

साफ जाहिर है कि आतंकवाद का सफाया करने के नाम पर अमरीकी साम्राज्यवाद न केवल दूसरे देशों (वियतनाम से लेकर अफगानिस्तान, इराक और अब एजेण्डे पर ईरान) की जनता का बर्बर दमन व उत्पीड़न कर रहा है बल्कि अपने ही नागरिकों के जनवादी अधिकारों पर भी सेंधमारी कर रहा है। ताजा घटनाक्रम में बुश सरकार की राष्ट्रीय सुरक्षा एजेन्सी ने अब दूरसंचार सेवा देने वाली तीन सबसे बड़ी टेलीफोन कम्पनियों के सभी उपभोक्ताओं के फोन-वार्ताओं का ब्यौरा रखना शुरू कर दिया है। जरा सोचिये तो लाखों फोन उपभोक्ता और करोड़ों फोन काल! सब पर शासन की खुफिया नज़र! अपने ही लोगों की हर बातचीत हर गतिविधि पर बुश-सरकार की गिद्ध दृष्टि। उस पर तुर्रा यह कि राष्ट्रीय सुरक्षा एजेन्सी का अध्यक्ष माइकेल हेडेन बेहयाई के साथ यह झूठ बोलता है कि उन्हीं टेलीफोन वार्ताओं को टैप किया जाता है जिसका दूसरा सिरा अमरीका के बाहर हो और यह कि इसे कानूनी दायरे के भीतर किया जाता है। सच तो यह है कि बुश प्रशासन, छिपे तौर से, कोर्ट-कचहरी से बचते हुए सभी लैण्डलाइन कॉल और वार्ता कर रहे दोनों टेलीफोन नम्बरों का पूरा रिकार्ड रखता है इतना ही नहीं बातचीत की समय सीमा को भी दर्ज करता है और कभी-कभी तो यह करते हुए कानून के उल्लघंन तक जा पहुँचता है और जब कोई भी बुश या उसकी सरकार को प्रश्नों के दायरे में रखता है तो उसके खिलाफ देशद्रोही या आतंकवादी होने का सबूत जुटाया जाने लगता है।

जनतंत्र और निजता के सबसे बड़े हिमायती कहे जाने वाले अमरीकी बुर्जुआ तंत्र का यह छल-छद्म कोई आश्चर्य की वस्तु नहीं है। यह प्रमाणित करता है कि कैसे बुर्जुआ जनवाद वास्तव में एक बुर्जुआ तानाशाही ही होती है जिसका हवाला मज़दूर वर्ग के शिक्षकों मार्क्स से लेकर लेनिन और माओ ने बार-बार अपने लेखों व उद्धरणों में दिया है।

यह वास्तविकता है कि जैसे-जैसे अमरीका बाहरी युद्ध में उलझता जा रहा है वैसे-वैसे घरेलू मोर्चे पर उसका तथाकथित जनवाद और नागरिक अधिकार अपने असली रूप में सामने आता जा रहा है।

—सुजाता

इस लुटेरी व्यवस्था को इतिहास के कूड़ेदान में पहुँचाना ही होगा

पेज 1 से आगे

का परिवार एक साल जितना अनाज खाता था। आज उससे 200 किलो कम खाता है। भोजन में विटामिन और प्रोटीन जैसे जरूरी पौष्टिक तत्वों की लगातार कमी होती गयी है। आम आदमी के लिए प्रोटीन के मुख्य स्रोत दालों की कीमत में पिछले एक साल के अन्दर 110 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है। हरी सब्जियाँ, दाल और दूध तो गरीब आदमी के भोजन से गायब ही हो चुके हैं। इसी का नतीजा है कि कुपोषण के कारण कम वजन वाले बच्चों की सबसे बड़ी संख्या भारत में है। एक तरफ आम आदमी की थाली से रोटियाँ घटती जा रही हैं, दूसरी ओर पिछले 3 साल के अन्दर सरकार ने 2.5 करोड़ टन अनाज अपने गोदाम खाली करने के लिए पूर्वी यूरोप भेजा है जहाँ उसे मवेशियों को खिलाया जाएगा। लाल राशन कार्ड (गरीबी रेखा के नीचे वाले लोगों के लिए) बनाने में किस कदर धांधली है इसके बारे में तमाम खबरें आ चुकी हैं। भारी संख्या में गरीब लोगों का तो कार्ड बना ही नहीं है। ऊपर से इस योजना के लिए आया हुआ 6 करोड़ टन अनाज ब्लैक में बेच दिया गया।

'बिगुल' के जुलाई 2006 के अंक में हमने लिखा था कि किस तरह से राशन के लिए अनाज के कोटे में कटौती की जा रही है। इस वर्ष कुल एक करोड़ साठ लाख टन अनाज की सरकारी खरीद का लक्ष्य था लेकिन सिर्फ 92 लाख टन की ही खरीद हो सकी। इसकी वजह यह थी कि बहुराष्ट्रीय और बड़ी भारतीय निजी कम्पनियों को अनाज बाजार में घुसने की छूट दी गयी थी और उन्होंने सरकारी दाम से ज्यादा कीमत देकर भारी मात्रा में अनाज उठा लिया। उनका खेल एकदम साफ है। सही मौका देखकर वे बाजार में अपना स्टाक उतारेंगी और ऊँची कीमत पर बेचेंगी। जाहिर है, इसका सबसे बड़ा बोझ आम मेहनतकश आबादी पर ही पड़ेगा।

बेतहाशा बढ़ती महँगाई ने आम मेहनतकश लोगों को जीवन की बुनियादी जरूरतों में कटौती करने के लिए मजबूर कर दिया है। बच्चों को स्कूल भेजने, कपड़े-लत्ते, गाहे-बगाहे पर्व-त्योहार-खुशियाँ मनाने के लिए उन्हें अपना और अपने बच्चों का पेट काटना पड़ रहा है। और अगर कहीं किसी बीमारी ने घेर लिया तो कर्ज के बोझ से लद जाने के सिवा कोई चारा नहीं।

लेकिन भारत की समृद्धि का गुणगान करते प्रधानमंत्री कहते हैं कि महँगाई रोकने के लिए सरकार कुछ नहीं कर सकती। वे कहते हैं कि बाजार की शक्तियों के आगे हम लाचार हैं। मानो बाजार की शक्तियाँ कोई दैवी शक्तियाँ हैं जो सरकार और पूँजीपतियों की मर्जी से परे हैं।

दरअसल "विकास" की यह सारी चकाचौंध मेहनतकश आबादी के श्रम को निचोड़कर और उसकी जेबों से आखिरी कौड़ी तक बीन लेने की बदौलत ही सम्भव हो रही है। पूँजीपति वर्ग के वफादार अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड कीन्स ने अपने आकाओं को सलाह दी थी कि मजदूर आम तौर पर मजदूरी घटाये जाने का विरोध करते हैं लेकिन अगर उस मजदूरी से खरीदी जाने वाली चीजों के दामों में बढोत्तरी हो तो वे अपने श्रम में कटौती नहीं करते। इसलिए मजदूरी बढ़ाने की माँग का विरोध करने के बजाय ज्यादा अक्लमंदी इस बात में है कि एक हाथ से उन्हें चन्द सिक्के ज्यादा दिये जायें और दाम बढ़ाकर दूसरे हाथ से उन्हें वापस ले लिया जाये।

भारतीय पूँजीपति और उनकी मैनेजिंग कमेटी – यह सरकार – बड़ी होशियारी से यह खेल खेल रहे हैं। बल्कि भारतीय मजदूरों पर तो दोहरी मार है। चीजों के दाम बढ़कर उनकी जेब तो लगातार काटी जा रही है लेकिन मजदूरी भी नहीं के बराबर बढ़ रही है। दूसरी ओर परजीवी मध्यवर्ग के ऊपरी तबकों की मौजमस्ती में कोई कमी नहीं आयी है क्योंकि अगर चीजों के दाम बढ़े हैं तो उसी तेजी से इस तबके की आमदनी भी बढ़ी है। एअरकंडीशंड दफ्तरों में बैठकर कलम या कम्प्यूटर चलाने और फोन घुमाकर आर्डर जारी करने वालों के लिए 35,000 से लेकर 75-80 हजार तक तनख्वाहें आम बात हो गयी हैं। पर जानलेवा हालात में रहने वाले मजदूर के लिए आज भी 60-75 रुपये की दिहाड़ी पर भी रोज काम पा जाना मुश्किल है।

सरकार बड़े जोर-शोर से जिस रोजगार गारण्टी योजना का प्रचार कर रही है उसकी असलियत क्या है। काम के अधिकार के सरकारी वायदे को पूरा करने के बजाय यह सिर्फ लोगों की आँखों में धूल झोंकने और ग्रामीण आबादी के एक हिस्से को शहरों की तरफ आने से रोकने का उपाय है। जरा देखें कि योजना किस किस्म के रोजगार की गारण्टी देती है! इसके तहत ऐसे हर गरीब परिवार को वर्ष में 100 दिन के रोजगार का वायदा किया गया है जिसका एक बालिग सदस्य अकुशल शारीरिक श्रम करने के लिए तैयार हो। अकुशल मजदूर की न्यूनतम मजदूरी (जो अलग-अलग क्षेत्रों में 30 रुपये के आस-पास है) पर साल में सिर्फ 100 दिन रोजगार मिलने पर कोई परिवार किस ढंग से जी सकेगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। अगर सरकार 100 दिन का रोजगार मुहैया नहीं करा सकी तो उसके बदले बेरोजगारी भत्ता देने का कोई वायदा नहीं किया गया है। यह योजना भी केवल ग्रामीण इलाकों के लिए है और देश के 150 पिछड़े जिलों तक सीमित है। ऊपर से तुर्रा यह कि इसके दायरे में सिर्फ लाल कार्ड वाले परिवार ही आयेंगे, यानी गरीबों की भारी आबादी तो इससे बाहर ही रहेगी। शहरी इलाकों में बेरोजगार मजदूरों और शिक्षित बेरोजगार युवाओं की करोड़ों की फौज के लिए सरकार के पास कोई योजना नहीं है। और हो भी क्यों! सड़कों पर भटकते बेरोजगारों की बदौलत ही तो पूँजीपति सस्ती से सस्ती दरों पर काम करने के लिए मजदूर और कर्मचारी पाते हैं। स्थायी नौकरियाँ खत्म करके पूरे देश में ऐसे हालात बनाये जा रहे हैं जिसमें बेरोजगारों की एक स्थायी फौज हर समय मौजूद रहेगी जिसमें से निकलकर कुछ लोगों को कुछ समय तक रोजगार मिल जाया करेगा और रोजगारशुदा लोगों का एक हिस्सा वापस सड़क पर आ जाया करेगा क्योंकि मालिक को उनसे कम मजदूरी और खराब शर्तों पर काम करने को तैयार लोग मिल जायेंगे।

बढ़ती गरीबी, लोगों को उनकी बुनियादी जरूरतों से भी वंचित करती महँगाई, बेरोजगारी, भयानक शोषण, शहरों में नरक भी बदतर हालात में जीने को मजबूर बीसियों करोड़ की आबादी, विकास के नाम पर उजाड़ी जाती करोड़ों की आबादी, दवाओं के इंतजार में तिल-तिलकर मरते गरीब लोग, कुपोषण के शिकार दुनिया के सबसे अधिक बच्चे, थानों में मरते गरीब नौजवान, हर वाजिब हक की माँग करने पर लाठी, गोली, जेल – ये है इस "समृद्ध और विकासमान" भारत की चमचमाती तस्वीर का दूसरा पहलू। मनमोहन सिंह को भी लाल किले के अपने भाषण में स्वीकारना पड़ा कि "हमारे देश की भारी आबादी अब भी आधुनिकीकरण के लाभों से वंचित है और अन्यायपूर्ण सामाजिक ढाँचे के कारण तकलीफ झेल रहे है।" लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के इस वफादार सेवक ने इन उत्पीड़ित लोगों की मुक्ति का रास्ता क्या सुझाया? यह रास्ता है कि इस अन्यायपूर्ण सामाजिक ढाँचे को और मजबूत बनाया जाये और इन्हीं लुटेरी नीतियों को और भी जोर-शोर से लागू किया जाये।

प्रधानमंत्री कहते हैं कि वे बाजार की शक्तियों के आगे लाचार हैं। इस देश के मेहनतकश अवाम और छात्रों-नौजवानों के सामने भी अब और कोई रास्ता नहीं है! वे इतिहास की गति को अनदेखा नहीं कर सकते। इतिहास ने पूँजीवाद को कूड़ेदान में धकेलने की जो जिम्मेदारी उनके कन्धों पर डाली है उसे अंजाम तक पहुँचाना ही होगा। इस जालिम व्यवस्था का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। इसे उखाड़ फेंकने में जितनी देर होगी, जनता की पीठ पर लदा दुख-तकलीफ का पहाड़ उतना ही ऊँचा होता जायेगा। पूँजीपतियों के सेवक अपने काम में लगे हैं। हमें भी इस व्यवस्था की जड़ खोदने के काम में दुगने जोश से लग जाना चाहिए।

■

एक बार फिर साबित हुआ कि बड़ी से बड़ी फौजी ताकत को जनसंघर्ष के आगे झुकना पड़ता है

पेज 1 से आगे

इस युद्ध ने अरब जगत में इजरायली सेना की अपराजेयता के मिथक को चकनाचूर कर दिया है। अरब जनता और सारी दुनिया ने देखा कि गुलेल से पत्थर फेंकते फिलिस्तीनी बच्चों और नौजवानों पर बहादुरी दिखाने वाली इजरायली सेना को अनुभवी और जोशीले लेबनानी योद्धाओं ने किस तरह धूल चटाई है। हवाई हमलों से तो इजरायल ने भयानक तबाही मचाई, लेकिन जैसे ही उसने जमीनी हमला शुरू किया उसके सैनिकों के लिए न सिर्फ आगे बढ़ना मुश्किल हो गया बल्कि उसे जगह-जगह भारी नुकसान भी उठाना पड़ा। किसी भी लेबनानी शहर या कस्बे पर इजरायली सेना कब्जा कायम नहीं रख सकी। बिन्त जबील शहर पर कब्जे की कई बार घोषणा की गई लेकिन दरअसल उस पर कभी भी इजरायली कब्जा नहीं हो सका। बौखलाहट में इजरायली सेना ने भारी मात्रा में प्रतिबन्धित हथियारों का इस्तेमाल किया। यहाँ तक कि युद्ध विराम के ऐन पहले से लेकर युद्ध विराम के बाद तक उसने दुगुनी तेजी से बमबारी और हवाई हमले किये। लेकिन इजरायल की जियनवादी सत्ता अपना एक भी मकसद पूरा नहीं कर सकी। यह हमला कथित तौर पर हिज्बुल्ला की कैद से दो इजरायली सैनिकों को छुड़ाने के लिए किया गया था। वे सैनिक आज भी हिज्बुल्ला की गिरफ्त में हैं और अब इजरायली प्रधानमंत्री एहुद ओल्मर्ट उन्हें छुड़ाने के लिए समझौते की पेशकश कर रहा है। हिज्बुल्ला को खत्म करना तो दूर अब वह पूरी अरब जनता की साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं का प्रतीक बन चुका है और पूरे लेबनानी अवाम में उसकी लोकप्रियता कई गुना बढ़ गयी है। जहाँ पहले उसे मुख्यतः दक्षिणी लेबनान में शिया आबादी का प्रतिनिधि माना जाता था वहीं अब वह पूरी लेबनानी जनता के प्रतिरोध संघर्ष का नायक है। यूरोप के प्रमुख अखबार क्रिश्चियन साइंस मॉनीटर के अनुसार युद्ध के दौरान किये गये एक सर्वेक्षण में 80 प्रतिशत ईसाई, 80 प्रतिशत द्रुज और 89 प्रतिशत सुन्नी आबादी ने हिज्बुल्ला के संघर्ष का समर्थन किया। अब लेबनानी जनता अपने मुल्क की तबाही के लिए हिज्बुल्ला को नहीं बल्कि इजरायल और अमेरिका को जिम्मेदार ठहराती है। यह प्रचार भी एकदम गलत है कि यह हिज्बुल्ला और इजरायल के बीच की लड़ाई थी। इजरायली हमले के बाद इसने एक राष्ट्रीय प्रतिरोध संघर्ष का रूप ले लिया था। युद्ध में मारे गये लड़ाकों में से 20 प्रतिशत गैर हिज्बुल्ला योद्धा थे। युद्ध के बाद हिज्बुल्ला ने किसी तरह के संकीर्ण धार्मिक या जातीय भेदभाव के बिना लेबनान में पुनर्निर्माण और पुनर्वास का व्यापक कार्यक्रम शुरू किया है।

युद्ध ने इजरायल और अमेरिका के इस झूठ का भी पर्दाफाश कर दिया कि हिज्बुल्ला सीरिया और ईरान के इशारों पर काम करने वाला आतंकवादी संगठन है। लोगों ने देखा कि हिज्बुल्ला लेबनान में गहरी सामाजिक जड़ों वाला एक रैडिकल राष्ट्रवादी संगठन है। यह, एक सामाजिक, राजनीतिक और सैन्य संगठन है जिसका व्यापक सामाजिक आधार है, खासकर गरीब शिया आबादी के बीच। लेबनानी संसद और मंत्रिमण्डल दोनों में हिज्बुल्ला की सीटें हैं और वह वहाँ की सरकार का एक स्तम्भ है। हिज्बुल्ला का जन्म 1982 से 2000 तक दक्षिणी लेबनान पर इजरायली कब्जे के खिलाफ चले प्रतिरोध संघर्ष से हुआ था। इजरायल को दक्षिणी लेबनान से खदेड़ने में मिली सफलता और लेबनान की भ्रष्ट तथा संकीर्णतावादी केन्द्रीय सरकारों द्वारा उपेक्षित शियाओं तथा अन्य समूहों को शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ मुहैया कराने में हिज्बुल्ला के काम ने उसके आधार को और गहरा बना दिया।

बुरी तरह मुँहकी खाने के बाद बौखलाहट में इजरायली सत्ता फिलिस्तीनियों पर टूट पड़ी है। गाजा पट्टी में पिछले दो महीनों से जारी इजरायली हमले और भी तेज कर दिये गये हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के मुताबिक 26 जून से 26 अगस्त 2006 के बीच गाजा में 202 फिलिस्तीनी इजरायली सेना के हाथों मारे गये। इनमें 44 छोटे बच्चे थे। पिछले कुछ दिनों के अन्दर इजरायली सेना दर्जनों बार गाजा में घुसी है और 247 बार हवाई हमले किये गये हैं। इन हमलों से हुई तबाही के कारण दस लाख से भी ज्यादा लोगों के पास पानी और बिजली की नियमित आपूर्ति तक नहीं है। गाजा का पूरा बुनियादी ढाँचा ध्वस्त हो चुका है। पिछली जनवरी में चुनाव में भारी बहुमत से जीते हमास के अनेक सांसदों और मंत्रियों तक को इजरायली सेना ने बंदी बना लिया है। अपने दो सैनिकों के पकड़े जाने के बहाने पूरे लेबनान को तबाह कर डालने वाली इजरायली सत्ता की जेलों में हजारों फिलिस्तीनी और सैकड़ों लेबनानी नागरिक कैद हैं। इनमें सैकड़ों बच्चे भी हैं। लेकिन हिज्बुल्ला के शानदार संघर्ष ने फिलिस्तीनी अवाम को भी एक नया हौसला दिया है और आने वाले दिनों में इजरायल को पहले से भी अधिक व्यापक और उग्र फिलिस्तीनी प्रतिरोध संघर्ष का सामना करना पड़ेगा।

इजरायल की शिकस्त से सबसे बड़ा झटका एहुद ओल्मर्ट की सरकार को लगा है। ज्यादातर विश्लेषकों का मानना है कि यह सरकार अब ज्यादा दिनों तक नहीं टिकेगी। इजरायली शासक वर्ग के भीतर के अन्तरविरोध और तीखे हो गये हैं। जहाँ आम इजरायली जनता का एक हिस्सा शान्ति की माँग उठा रहा है वहीं शासकों के अन्य धड़े और बड़ी तथा उग्र सैनिक कार्रवाई पर जोर दे रहे हैं। इस युद्ध ने इजरायली अर्थव्यवस्था को भी झकझोर डाला है। सरकारी अनुमान के अनुसार युद्ध से इजरायल पर 4.5 अरब से 5 अरब डॉलर का बोझ पड़ा है जो इजरायल के सकल घरेलू उत्पाद के 4 प्रतिशत और

पेज 7 पर जारी

भारत में बच्चों के कुपोषण पर विश्व बैंक के घड़ियाली आँसू

बिगुल संवाददाता

दिल्ली। विश्व बैंक समय-समय पर दुनिया के गरीब देशों में भूख, गरीबी, स्वास्थ्य व शिक्षा आदि के हालात पर भारी-भरकम रिपोर्टें प्रकाशित करता रहता है। वातानुकूलित सभागारों में बैठकर तमाम महानगरीय बुद्धिजीवी इन रिपोर्टों पर गुरु-गम्भीर चर्चाएँ करते हैं। फिर वे इन चर्चाओं से पैदा होने वाली थकान को दूर करने के लिए शाम को उम्दा अंग्रेजी शराब के कुछ घूँट हलक से उतारते हुए अपने-अपने शयनकक्षों में देश-दुनिया की सारी चिन्ताओं को भूलकर सो जाते हैं—अगले दिन की चर्चाओं के लिए ऊर्जा बहाल करने के वास्ते।

ऐसे महानगरीय बुद्धिजीवियों और ए.जी.ओ. वालों की चर्चाओं को गरमाने के लिए विश्व बैंक ने एक ताजा मसाला पेश किया है। भारत में बच्चों के कुपोषण पर उसकी नयी रिपोर्ट आयी है—'भारत के कुपोषित बच्चे : सुधार और कार्रवाई का आह्वान'। अब तक प्रकाशित तमाम पुरानी रिपोर्टों की ही तरह इस भारी-भरकम रिपोर्ट में भी उसने भारत में बच्चों के कुपोषण के बारे में जो जानकारियाँ दी हैं वे बेचैन करने वाली हैं लेकिन उसके कारणों के विश्लेषण और समाधान की बात आते ही इस वैश्विक संस्था की असलियत उजागर हो जाती है।

रिपोर्ट के अनुसार भारत में हर साल कुल पैदा होने वाले बच्चों में लगभग आधे तीन वर्ष से कम उम्र में ही मर जाते हैं। असमय काल के गाल में समा जाने वाले इन बच्चों में से लगभग आधे कुपोषण के कारण मरते हैं और बाकी आधे मलेरिया, डायरिया, न्यूमोनिया और खसरा आदि

बीमारियों के कारण। राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1998-99 के आँकड़ों के अनुसार भी तीन वर्ष से कम उम्र के 47 प्रतिशत बच्चे सामान्य से कम वजन के पाये गये। जाहिर है कि इन बच्चों में ग्रामीण क्षेत्रों, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों तथा बच्चियों की स्थिति ही ज्यादा है।

रिपोर्ट में एक तथ्य यह भी दिया गया है कि 1990 के बाद भारत में कुपोषित बच्चों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है जबकि इसी अवधि में भारत की आर्थिक विकास दर में बढ़ोत्तरी को डंका पूरी दुनिया में बज रहा है। महाराष्ट्र, जो कि भारत का तुलनात्मक रूप से विकसित राज्य है, कुपोषित बच्चों के मामले में 'बिमारू' राज्यों (बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश) के बगल में खड़ा है। इससे यही सच्चाई जाहिर होती है कि पूँजीवादी आर्थिक विकास दर का बढ़ना पूँजीपतियों और समाज के ऊपरी मुट्ठीभर तबकों की समृद्धि का ही सूचक होता है जबकि आम गरीब आबादी की ज़िन्दगी बदतर होती जाती है। इस सच्चाई के बावजूद विश्व बैंक इस स्थिति को दूर करने के लिए जो नुस्खे सुझाता है वे न केवल हास्यास्पद हैं बल्कि इस बात को भी उजागर करने वाले हैं कि बच्चों में व्याप्त कुपोषण की महामारी के प्रति विश्व बैंक केवल घड़ियाली आँसू बहा रहा है।

इस शताब्दी की शुरुआत में, वर्ष 2000 में एक अन्य अन्तरराष्ट्रीय संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ ने 'सहस्राब्दी विकास लक्ष्य' के नाम से एक कार्यक्रम निर्धारित किया था जिसमें वर्ष 2015 तक आठ लक्ष्यों को हासिल कर लेने का ढपोरशंखी ऐलान किया गया था। इन आठ लक्ष्यों में दुनिया में फैली गरीबी के स्तर को आधा करना और सबको प्राइमरी शिक्षा उपलब्ध कराना शामिल था। इस लक्ष्य के साथ विश्व बैंक सहित तमाम अन्य अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं और सरकारों ने अपनी वचनबद्धता जोड़ी थी। इसी वचनबद्धता का पालन करते हुए विश्व बैंक ने भी लक्ष्य निर्धारित किया था कि वह 2015 तक भारत में कुपोषित बच्चों की संख्या घटाकर 27 प्रतिशत तक ले आयेगा। इस लक्ष्य की घोषणा हुए इस सदी के छह वर्ष गुजर चुके हैं लेकिन लक्ष्य अपनी जगह बना हुआ है। तमाम आँकड़े इस सच्चाई को चीख-चीखकर बता रहे हैं कि पिछले डेढ़ दशक के दौरान दुनिया के स्तर पर अमीरी-गरीबी की खाई बढ़ती जा रही है। अमीर और गरीब देशों के मामले में भी यह बात सही है और एक देश के भीतर अमीरी और गरीबी के मामले में भी। इस बात की कल्पना कोई सिरफिरा या मासूम ही कर सकता है कि दुनिया के पूँजीपति लुटेरे एक दिन अपने मुनाफ़े की हवस भूल जायेंगे और भूमण्डलीकरण की लुटेरी आर्थिक नीतियों की दिशा बदलकर जनकल्याण की दिशा में उन्मुख हो जायेंगे। फिर भी विश्व बैंक बिना इन नीतियों में कोई परिवर्तन लाये 2015 तब अपने लक्ष्य को हासिल करने पर अड़ा हुआ है। इसके लिए उसने रिपोर्ट में कुछ नुस्खे सुझाये हैं।

2015 तक भारत में कुपोषित बच्चों की संख्या घटाकर 27 प्रतिशत करने के लिए विश्व बैंक ने 1975 से चली आ रही अपनी 'एकीकृत बाल विकास सेवाएँ' नामक योजना के अमल को दुरुस्त करने का नुस्खा सुझाया है। इसके तहत ज़ोर इस बात पर नहीं है कि बच्चों के माताओं-पिताओं की गरीबी को दूर कर उन्हें इस लायक बनाया जाये कि वे भी समुचित पोषणयुक्त भोजन कर सकें और बच्चों को भी खिला-पिला सकें। ज़ोर इस बात पर है कि कुपोषित बच्चों के माताओं-पिताओं के बीच जागरूकता पैदा की जाये। यह काम आँगनबाड़ी कार्यकर्मियों के जिम्मे डाल दिया गया है। बेचारी आँगनबाड़ी कार्यकर्मियों जो स्वयं ही कम वेतन और कई तरह के अन्य कामों की जिम्मेदारियों का बोझ उठाने के चलते स्वयं ही कुपोषण की शिकार हैं वे भला कुपोषण के खिलाफ़ किस तरह की जागरूकता पैदा करेंगी इसे बताने की जरूरत नहीं।

संशोधनवादियों के मजदूर विरोधी कारनामे

पेज 3 से आगे

आन्दोलन के इतिहास में हुये बदनाम समझौतों में से एक होगा। फैसले के अनुसार मजदूरों ने अपनी जायज माँगों के लिए हड़ताल करके मालिक का जो 'नुकसान' किया था उसके जुर्माने के तौर पर उन्हें 8 दिन बिना तनख्वाह के काम करना पड़ा। इस फैसले ने मजदूरों को सोचने पर मजबूर किया कि "लाल झण्डा" मजदूरों की एकता, संघर्ष और जीत का प्रतीक होता है कि अधिकार हासिल करने से रोकने का। क्योंकि समय-समय पर सीटू नेताओं ने मजदूरों को आन्दोलन आगे बढ़ाने से रोकने के लिए धारा 144 का डर दिखलाया गया। धारा तोड़ने के लिए किसी बड़े नेता या विधायक का सहयोग लेने की बजाय उनके खिलाफ प्रचार किया गया। हुए फैसलों में ज्यादातर मैनेजमेंट टेबल व मालिकों की पसन्द के स्थान और फैसले का खास ध्यान रखा गया। हर फैसले पर उन्हें मजदूरों के विरोध का सामना करना पड़ा क्योंकि उनमें मालिक-पूजा की साफ झलक मिलती थी। फैक्ट्रियों से निकाले गये मजदूरों में से कुछ को छोड़कर बाकी सभी बाहर हैं और ज्यादातर सीटू के मेम्बर नहीं रहे। मालिकों ने आन्दोलन बन्द करने पर निकाला जाना बन्द करने का आश्वासन दिया। लेकिन सबकुछ वैसे ही जारी रहा। विरोध करने पर वही "आठ दिन मुफ्त काम"।

सीटू की ऐसी कार्रवाइयों से मजदूरों को सचेत होने की जरूरत है क्योंकि अगर इसकी पार्टी माकपा का चरित्र संशोधनवादी है जो कि असल में मजदूर विरोधी पूँजीवादी रास्ता ही है, तो सीटू से क्या आशा की जा सकती है। चलना तो इसे पार्टी के ही अनुसार है। लम्बे समय से गलत लाइन पर चलते हुए माकपा और सीटू सच्चाई, ईमानदारी और अधिकारों की लड़ाई से बहुत दूर चले गये हैं। बहादुर मजदूरों को विकल्प ढूँढ़ना होगा। हुई हारों से निराश न होते हुये अपने जुझारू आन्दोलनों के सबक निकालकर जुल्म-विरोधी संघर्ष की तैयारी में जुटना होगा। इस बात पर विश्वास रखना होगा कि भविष्य उनका है। मजदूर एकता के आगे दुनिया की कोई भी ताकत टिक नहीं सकती। माना कि राह कठिन है लेकिन फैक्ट्रियों में बारह-बारह घण्टे काम करने वाले, इतनी कम तनख्वाहों में गुजारा चला सकने वाले, रोजमर्रा की तमाम छोटी-बड़ी कठिनाइयों को सह सकने वाले मजदूर हर कठिन यात्रा कर सकते हैं, हर दुश्मन को धूल चटा सकते हैं।

माकपा का वोट-बैंक मजबूत करने के लिए प्रयोग करता है। इसी दौरान वह मजदूरों को बेवकूफ बनाते हुए और उनकी भावनाओं के साथ खिलवाड़ करते हुए कुशलतापूर्वक पूँजीवाद की पूजा का भी कायम रखता है।

एक बार फिर साबित हुआ कि बड़ी से बड़ी फौजी ताकत...

पेज 6 से आगे

सरकार के कुल खर्चे के 9 प्रतिशत के बराबर है। इराक और अफगानिस्तान में हो रहे भीषण खर्चों के बोझ से चरमराता अमेरिका भी इस मामले में इजरायल की ज्यादा मदद नहीं कर पायेगा। तय है कि युद्ध की कीमत इजरायल की आम जनता को ही चुकानी पड़ेगी। कम ही लोगों को मालूम होगा कि 15 लाख या लगभग एक चौथाई इजरायली आबादी गरीबी रेखा के नीचे जीती है और वहाँ बेरोजगारी की दर 9 प्रतिशत पार कर चुकी है। इनमें बड़ी संख्या अरब नागरिकों की है। जाहिर है कि इससे इजरायली समाज में वर्गीय अन्तरविरोध और तेज होंगे।

पश्चिम एशिया क्षेत्र की सबसे ताकतवर सेना के खिलाफ लेबनान के एक माह तक चले प्रतिरोध संघर्ष ने अरब जनता में नया जोश भर दिया है। लोगों ने देख लिया है कि आधे से ज्यादा लेबनान को धूल में मिला देने के बाद भी इजरायल संघर्ष को खत्म नहीं कर सका। हिज्बुल्ला ने यह दिखा दिया है कि दुनिया की सबसे बड़ी महाशक्ति की जबर्दस्त मदद के बावजूद इजरायल की अपराजेयता सिर्फ एक भ्रम है। इराक में बुरी तरह फँसे अमेरिका के मुँह पर भी यह एक और तमाचा है जो हिज्बुल्ला के खात्मे के बाद सीरिया और ईरान में सत्ता परिवर्तन के मंसूबे बाँध रहा था।

हिज्बुल्ला ने इजरायली हमलावरों को पीछे धकेल कर एक बार फिर माओ त्से-तुङ की इस बात को सही साबित किया है कि हथियारों के बड़े-से-बड़े जखीरे जनसंघर्ष के समुद्र में डूब जाते हैं। आने वाले समय में बौखलाये अमेरिकी साम्राज्यवादी और उसके जियनवादी लठैत फिर से लेबनान और फिलिस्तीनियों पर हमले तेज करेंगे क्योंकि जैसा कि माओ ने कहा है कि बार-बार गलती करना, फिर मुँहकी खाना और फिर गलती करना जब तक कि वे नष्ट न हो जायें, यह साम्राज्यवादियों की आदत है। और लगातार लड़ते जाना जब तक कि साम्राज्यवाद को दफन न कर दिया जाये, यह जनता की फितरत है। पश्चिम एशिया में इजरायली-अमेरिकी गुण्डागर्दी के दिन अब लद चले हैं। बेशक एक दो साल में ऐसा नहीं होने वाला, लेकिन यह तय है कि अगले कुछ वर्षों में पूरे अरब विश्व से साम्राज्यवाद को खदेड़ा जायेगा, और यह विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था की जड़ों को हिलाकर रख देगा।

—सत्यम

उन 100 अनाम मजदूरों की मौत खबर भी नहीं बनी

कोयला खदान में पानी भरने से फँसे इन मजदूरों को बचाने कोई नहीं आया

चन्द सप्ताह पहले हरियाणा के एक गरीब मजदूर के बेटे प्रिंस को गड्ढे में से निकालने के लिए दिन भर चली सनसनीखेज कार्रवाई को टीवी पर देखकर या उसके बारे में पढ़-सुनकर कुछ लोगों को शायद यह भ्रम हो गया हो कि अपने देश में गरीब की जान की भी कुछ कीमत है। तभी तो प्रशासन से लेकर सेना तक जुट जाते हैं, विधायक से लेकर मुख्यमंत्री तक वहाँ पहुँच जाते हैं और सारे देश का मीडिया पल-पल की खबरें देता रहता है। लेकिन इसके ठीक एक सप्ताह बाद हुई एक भयानक घटना ऐसे लोगों की आँखें खोलने के लिए काफी है। यह अलग बात है कि इस घटना के बारे में बहुत कम लोगों को ही पता चल पाया।

पिछले एक अगस्त को पश्चिम बंगाल के पुरुलिया जिले की गंगटिकुली नाम की जगह में एक बन्द कोयला खदान में 100 से ज्यादा मजदूर अचानक आये पानी में फँस गये। उन्हें बचाने कोई नहीं आया। सेना ने छह दिन बाद कहा कि उन अभागे मजदूरों के बचने की कोई संभावना नहीं है इसलिए बचाव कार्य की कोशिश करने से कोई फायदा नहीं। केंद्रीय औद्योगिक सुरक्षा बल ने बचाव कार्य के अनुरोध पर कोई जवाब ही नहीं दिया। जिला प्रशासन और ईस्टर्न कोलफील्ड लिमिटेड (ईसीएल) के अफसर एक-दूसरे पर जिम्मेदारी थोपकर खुद कुछ भी करने से बचते रहे। केन्द्रीय कोयला मंत्री शिबू सोरेन को वहाँ जाना पड़ा क्योंकि खदान में फँसे ज्यादातर मजदूर झारखण्ड के सीमावर्ती गाँवों के थे। पर वह बेशर्मी से यह बयान देकर चलते बने कि अभी तो सिर्फ कागजी कार्रवाई हो रही है। मजदूरों के नाम पर 30 साल से बंगाल में राजपाट चला रही पार्टी के मुख्यमंत्री बयान देते रहे कि उनकी सरकार स्थिति पर नजर रखे हुए है...और उनकी नजरों के सामने 100 से ज्यादा गरीब मजदूरों ने 180 फुट नीचे धरती के अँधेरे गर्भ में उफनते पानी और जहरीली गैसों में घुटघुटकर दम तोड़ दिया।

कोई टीवी चैनल वहाँ नहीं पहुँचा, यह खबर अखबारों की सुर्खियों में भी जगह नहीं बना पायी। क्योंकि वहाँ कोई सनसनी नहीं थी, पल-पल बढ़ता रोमांच नहीं था, मौके पर मौजूद कोई हस्तियाँ नहीं थीं जिसके सहारे 'एक्शन', 'एडवेंचर' और 'थ्रिल' से भरपूर दिल थाम लेने वाला तमाशा पेश किया जा सके। वहाँ थे अँधेरे में दफन सिर्फ कुछ बेनाम मजदूर और उनके रोते-बिलखते परिवार वाले। गरीबों के दर्द की इस कहानी को दिखाकर टीवी वाले अपने दर्शकों का जायका भला क्यों खराब करते? मीडिया को न तो प्रिंस की जान बचाने से कोई मतलब था, न इन मजदूरों की जान बचाने की उसे कोई फिक्र हो सकती थी। पूँजीवादी मीडिया नारा जरूर लगाता है कि 'खबर वही जो सच दिखाए' लेकिन दरअसल उसका मतलब होता है 'खबर वही जो बेची जा सके'। जीवन से उकताए, हमेशा कुछ रोमांच, कुछ मनोरंजन की ताक में लगे मध्यवर्ग और व्यापारी जमातों के लिए नये-नये तमाशे पेश करके अपने दर्शक बढ़ाने के सिवा उसका कोई उसूल, कोई संवेदना नहीं होती।

गंगटिकुली में सबने यह कहकर पल्ला झाड़ लिया कि गाँववाले बंद पड़ी खदान से अवैध ढंग से कोयला निकाल रहे थे। पर सच तो यह है कि करोड़ों रुपये का यह अवैध कारोबार बरसों से जारी है। प्रशासन की पूरी जानकारी में। उस इलाके में एक-दो नहीं दर्जनों ऐसी खदानें हैं जिनसे कोयला निकलवा कर बेचने के कारोबार में कोयला माफिया सक्रिय है। वहाँ 30-40 अवैध कोल डिपो हैं जहाँ इन खदानों से निकाला गया कोयला जमा किया जाता है और फिर झारखण्ड और बंगाल के स्पंज आयरन कारखानों को बेचा जाता है। स्थानीय लोगों के मुताबिक कोयला माफिया हर महीने 35-40 लाख रुपये पुलिस को खिलाता है। गंगटिकुली ही नहीं, झारखण्ड-बंगाल सीमा के पूरे कोयला क्षेत्र में इस माफिया का राज चलता है, प्रशासन की पूरी मिली-भगत से। शीर्ष पर बैठे मंत्रियों-नेताओं से लेकर नीचे के अफसरों तक सबको उनका हिस्सा मिलता है।

सार्वजनिक क्षेत्र की दो कम्पनियों ईसीएल और भारत कोकिंग कोल लिमिटेड (बीसीसीएल) द्वारा खतरनाक मानकर छोड़ दी गयी खदानों को अपने कब्जे में लेकर माफिया सरगना बंगाल और झारखण्ड के गरीब बेरोज़गार मजदूरों को चन्द पैसों के लिए मौत के इन कुओं में भेजते रहते हैं। वहाँ सुरक्षा का कोई इंतजाम नहीं होता। यह बताने वाला कोई नक्शा तक नहीं होता कि कहाँ कोयला खोदना सुरक्षित है और कहाँ नहीं। इसीलिए गंगटिकुली के वे मजदूर खोदते हुए दामोदर नदी के बहुत पास तक चले गये और नदी का पानी कोयले की पतली दीवार को तोड़कर खदान में भर गया।

खदान में मरने वाले अनाम मजदूर तो बस दो जून की रोटी के लिए जान जोखिम में डालकर धरती के पेट में उतरे थे। इन खदानों से कोयला निकालने वाले मजदूरों को 35 किलो की बोरी भर कोयला खोदने पर सात रुपये मिलते हैं। लेकिन कोयला माफिया की कमाई करोड़ों में होती है। अवैध कोयला सस्ता होता है। सरकारी न्यूनतम रेट 2500 रुपये प्रति टन के मुकाबले यह 1800 रुपये प्रति टन (1000 किलो) पर बिकता है और स्पंज आयरन कारखानों तथा ईंट भट्ठों में इसकी जबर्दस्त माँग होती है।

यह दुर्घटना कोई पहली ऐसी घटना नहीं थी। आये दिन छोटी घटनाएँ होती रहती हैं जिनमें अक्सर एक-दो लोगों की मौत हो जाती है पर उन्हें दबा दिया जाता है। करीब दो साल पहले भी एक बड़ी दुर्घटना में 50 से ज्यादा मजदूर मारे गये थे। लेकिन सारा कारोबार बदस्तूर चलता रहा। कोयला माफियाओं के खिलाफ एक नहीं बल्कि 8-10 नामजद एफआईआर दर्ज हैं लेकिन आज तक एक भी माफिया सरगना को गिरफ्तार नहीं किया गया है। अगर प्रशासन चौकस होता तो इस हादसे को रोका जा सकता था। कोयला कम्पनियाँ भी इस जिम्मेदारी से पल्ला नहीं झाड़ सकतीं। नियम है कि जब किसी खदान को बन्द करके छोड़ा जाता है तो अवैध कटाई रोकने और खदान को धँसने से बचाने के लिए उसमें रेत भर देनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं किया जाता।

उदारीकरण की नयी नीतियों के तहत पूँजीपति हर उस कानून को ठिकाने लगाने के लिए सरकार पर दबाव डाल रहे हैं जिससे उन्हें मजदूरों को खुलकर निचोड़ने में जरा भी अड़चन महसूस होती हो। श्रम कानूनों में सुधार के नाम पर मजदूरों की सुरक्षा की थोड़ी-बहुत गारण्टी करने वाले औद्योगिक कानूनों को एक-एक करके खत्म किया जा रहा है। भारतीय पूँजीपति बार-बार चीन का उदाहरण देते हैं जहाँ के नये पूँजीवादी हुक्मरान मजदूरों को जानवरों की तरह पूँजी के जुवे में जोतने के नये कीर्तिमान बना रहे हैं। "विकास" की अन्धी दौड़ में जुटे चीन में कारखानों का पेट भरने के लिए इन दिनों खदानों से अन्धाधुन्ध खनिज निकाले जा रहे हैं। हर तरह के सुरक्षा नियमों को धता बताकर करायी जा रही खुदाई के कारण वहाँ खदान दुर्घटनाओं की बाढ़ आ गयी है। पिछले कुछ वर्षों से चीन में केवल कोयला खदान दुर्घटनाओं में हर साल 5000 से ज्यादा मजदूरों की मौत हो जाती है। भारत में भी एक के बाद एक देशी-विदेशी निजी कम्पनियों को खनन के ठेके दिये जा रहे हैं और श्रम कानूनों को भरपूर लचीला बनाने के वादे किये जा रहे हैं। आने वाले वर्षों में गंगटिकुली जैसी घटनाएँ और बढ़ेंगी। अवैध खान माफियाओं के इलाकों में ही नहीं, बल्कि बड़ी-बड़ी कम्पनियों की खदानों में भी।

–बिगुल संवाददाता

सामाजिक जनवाद : विश्व–पूँजीवाद की मजबूत सुरक्षा दीवार

भूमण्डलीकरण की आर्थिक नीतियाँ विश्व पूँजीवाद को संकटों से उबारने की आर्थिक रणनीति है और सामाजिक जनवाद (समाजवाद या कम्युनिज़्म का आवरण लेकिन असलियत में पूँजीवाद) एक कारगर राजनीतिक सुरक्षा-दीवार। इस सच्चाई को समझने के लिए देश के भीतर सबसे प्रातिनिधिक रूप में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) की अगुवाई वाली पश्चिम बंगाल की वाम मोर्चा सरकार और दुनिया के स्तर पर चीन की कम्युनिस्ट नामधारी सरकार की नीतियों और आचरण पर निगाह डाल लेना काफी है।

आज देश के भीतर पश्चिम बंगाल राज्य देशी और विदेशी पूँजी के निवेश के लिए सबसे सुरक्षित ठिकाना बना हुआ है। विगत विधानसभा चुनावों में तीन चौथाई बहुमत से चुनाव जीतकर वाम मोर्चा सरकार में दुबारा मुख्यमंत्री बने बुद्धदेव भट्टाचार्य की सोच और कार्यप्रणाली अनायास ही मनमोहन सरकार और तमाम बहुराष्ट्रीय मुद्राकोष (आई एम एफ) जैसी अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की नज़रों में आदर्श नहीं बनी हुई है। मनमोहन सिंह तो कई बार अन्य राज्यों के मुख्यमंत्रियों को बुद्धदेव दादा से सीख लेने और उनके नक्शेक़दम पर चलने की नसीहत दे चुके हैं। 'दादा कामरेड' की क्या खासियतें हैं इसे समझने के लिए उनके कारनामों पर नज़र डालने से पहले उनकी सोच का जायजा लेना ज्यादा सही है। चुनाव जीतने के बाद गदगद बुद्धदेव भट्टाचार्य ने 'द हिन्दू' अखबार को दिये गये एक इण्टरव्यू में फरमाया था : "मेरा मानना है कि समाजवाद ऐतिहासिक तौर पर अपरिहार्य है लेकिन आज की परिस्थिति में हम इसका निर्माण नहीं कर सकते। इसलिए अगर हमें विकास करना है तो हमें निवेश चाहिए और (इस उद्देश्य के लिए) निजी पूँजी को आमंत्रित करना होगा। इस समय इसका कोई विकल्प नहीं है।" अपनी सरकार की प्राथमिकताएँ गिनाते हुए बुद्धदेव दादा ने कहा था कि गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों का जीवन स्तर सुधारने के अलावा उन्हें कृषि क्षेत्र की सफलताओं को सुदृढ़ करना है, व्यापक निवेश के ज़रिये औद्योगिक विकास को बढ़ाना है और "कार्य संस्कृति" सुधारने पर जोर देना है। देश और दुनिया के पूँजीपति बुद्धदेव भट्टाचार्य की इसी साफगोई और निर्द्वन्द्वरवैये पर ही तो फ़िदा हैं।

ऐसी ही बेबाकी का नमूना उन्होंने पिछले साल चुनावों के पहले पेश किया था जब वह जमीन-जायदाद के धन्धे में विदेशी निवेश को लुभाने के लिए इण्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता गये थे। 'जकार्ता पोस्ट' को दिये गये एक इण्टरव्यू में उन्होंने कहा था, "हम पुरानी रूढ़ियों के बारे में अब और नहीं बोल सकते। विश्व बदल रहा है। हम भी बदल रहे हैं। यदि 1978 से पहले की स्थिति देखें तो आज चीन में हालात एकदम बदल गये हैं।" इसी इण्टरव्यू में सोच बदलने की नसीहत देते हुए कामगारों से कहा था, "उत्पादकता और गुणवत्ता वाले उत्पादन जैसे मुद्दे इस समय प्रबन्धन के लिये ही सिरदर्दी का कारण नहीं होना चाहिए। आपको भी इस जिम्मेदारी में हाथ बँटाना होगा। अन्यथा उद्योग ढह जायेंगे और नौकरियाँ समाप्त होती जायेगी।"

तो बात यह है! बुद्धदेव भट्टाचार्य और उनकी कम्युनिस्ट नामधारी मण्डली ने बदलते विश्व के हिसाब से बदलना सीख लिया है! लेकिन दुनिया किस तरह बदल गयी है बाबू मोशाय? क्या पूँजी द्वारा श्रम का शोषण खत्म हो गया है या उनके बीच सहकार कायम हो गया है? वैसे आप अभी भी अगर समाजवाद को एक ऐतिहासिक अपरिहार्यता मानते हैं तो इसके लिए मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकश तबकों को गोलबन्द करने के बुनियादी कार्य को छोड़कर देशी-विदेशी पूँजीपतियों की ओर प्रेम की पींगें बढ़ाने के लिए क्यों दीवाने हो रहे हैं? देशी-विदेशी पूँजी की बर्बर लूट के ख़िलाफ़ मज़दूरों-मेहनतकशों को संघर्ष के लिए ललकारने के बजाय 'उत्पादकता और गुणवत्ता बढ़ाने' की सीख क्यों दे रहे हैं? मज़दूर वर्ग को नये समाजवादी समाज की संस्कृति में दीक्षित करने के बजाय पूँजीवादी मैनेजमेण्ट गुरुओं की भाषा में "कार्यसंस्कृति" में सुधार का रोग क्यों अलाप रहे हैं? वजह साफ है। पूँजीवादी-साम्राज्यवादी दुनिया की बुनियादी रीति-नीति में तो कोई बदलाव नहीं आया है "कामरेड"! अगर बदल चुकी है तो वह है आपकी नीति और नीयत। क्रान्ति का रास्ता आपके लिए पुरानी रूढ़ियों पर चलना है और आपका नया ढंग है–पूँजीवादी व्यवस्था की चौकीदारी करना और अगर उस पर कोई खतरा मँडराता नज़र आये तो पूँजीवादी सत्ता की समूची ताकत के साथ उस पर टूट पड़ना।

पूँजी की सेवा में मुस्तैद अपने असली चेहरों को लोकलुभावन मुखौटों और असल मंसूबों की लफ्फाजियों की आड़ में छुपाना सभी सामाजिक जनवादियों की फितरत है। इस मामले में बुद्धदेव भट्टाचार्य भी पीछे नहीं हैं। इसलिए अपनी सरकार की प्राथमिकताओं में गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की दशा सुधारने का काम गिनाना भी पूँजी का यह नया जोशीला चाकर नहीं भूला है। दरअसल बुद्धदेव भट्टाचार्य की पूरी जमात "मानवीय चेहरे वाले भूमण्डलीकरण" की हिमायती है। इनकी नीति है कि देशी-विदेशी निजी पूँजी को खुले हाथों से रियायत तो दी जाये लेकिन ये चाहते हैं कि इसके सामाजिक दुष्परिणामों को रोकने के लिए कुछ पूँजीवादी खैरात भी बाँटी जाती रहे–सार्वजनिक वितरण प्रणाली को पूरी तरह ध्वस्त न किया जाये, आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को पूरी तरह खुले बाज़ार की ताकतों के हवाले न छोड़ दिया जाये, शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में निजी पूँजी आये लेकिन सरकार पूरी तरह हाथ न खींच ले आदि। यानी भूमण्डलीकरण की नीतियाँ लागू करते हुए राज्य पूरी तरह कल्याणकारी मुखौटे न उतार फेंके। जनअसन्तोष की आग पूँजीवादी निज़ाम को ही जलाकर खाक़ न कर दे इसलिए उस पर पानी के छींटे डालते रहा जाये। विश्व पूँजीवाद की हिफाजत के लिए इससे कारगर नुस्खा अभी तक ईजाद नहीं हो सका है। यही काम एन.जी.ओ. भी कर रहे हैं। इसीलिए दुनिया भर में सामाजिक जनवादियों और एन.जी.ओ. वालों के बीच हनीमून चल रहा है। वर्ल्ड सोशल फोरम भी यही कर रहा है। इसीलिए दुनिया भर में सच्चे क्रान्तिकारी वामपन्थी सामाजिक जनवादियों को रंगे सियार कहते हैं। इसीलिए उन्हें

पेज 9 पर जारी

मेहनतकश अवाम के जगते ही बड़े-बड़े सम्पत्ति-साम्राज्य धूल चाटते नजर आते हैं!

बिगुल संवाददाता

भारत को गरीब देश कहने वालों को अपनी बात वापस लेकर एक बार पुनर्विचार करना चाहिए क्योंकि अभी-अभी निवेश समूह लिंच एण्ड कंस्लटेंसी कैपजेमिनी ने 10वीं विश्व सम्पदा रिपोर्ट के तहत बताया है कि भारत इस समय 83 हज़ार करोड़पतियों का देश है। इसी तरह अमेरिकी पत्रिका फोर्ब्स ने दुनिया के अरबपतियों की जो सूची प्रकाशित की है जिसमें 27 भारतीय हैं। मालूम हो कि विगत बीस सालों से फोर्ब्स उन धनाढ्यों की सूची छापती आ रही है जिनकी परिसम्पत्ति एक अरब डालर से अधिक है। यदि एशिया में सबसे धनी लोगों की सूची पर नज़र डालें तो उनमें केवल भारत में ही चालीस नाम हैं।

फोर्ब्स में पहली बार जब यह सूची छपी तब उसमें पूरी दुनिया में केवल 140 अरबपतियों के नाम थे। तीन साल पहले उनकी संख्या 476 थी जबकि पिछले साल 690 और इस साल वह 792 पर पहुँच गयी है। अरबपतियों की इस सूची में 27 भारतीय हैं। जिनमें से दस पहली बार शामिल हुए हैं। धनाढ्यों की संख्या में बढ़ोत्तरी और उनकी पूँजी की गति में बढ़ोत्तरी कुछ जादुई सा दृश्य उपस्थित करती हैं। जाहिर है इस बढ़ोत्तरी का रिश्ता उत्पादन से नहीं बल्कि शेयर बाज़ार से है और भारत में शेयर बाज़ार की तेजी ने रातों-रात इनकी परिसम्पत्तियों में वृद्धि का यह नजारा पेश किया है। मीडिया द्वारा सम्पत्तिशाली धनाढ्यों का यह प्रदर्शन दरअसल लूट लिये जाने वाले वर्गों की दृष्टि से ओझल करता है।

दूसरी ओर देश में पचास प्रतिशत लोग ऐसे हैं जो ठीक से पढ़-लिख नहीं सकते। 15 सौ रुपये महीने पाने वाले मज़दूरों को मुश्किल से सिर पर छत और ज़िन्दगी की बुनियादी जरूरतें हासिल हो पाती हैं। उसे मजबूरन अपने बच्चे को स्कूल के बदले काम पर भेजना पड़ता है। किसानों को गरीबी से तंग आकर आत्महत्याएँ करनी पड़ रही हैं। एक अरब दस करोड़ की आबादी वाले देश में अस्सी करोड़ लोग बमुश्किल नब्बे रुपये या उससे कम प्रतिदिन कमाते हैं। गाँवों में स्कूलों की हालत बदतर है, भवन जर्जर है और शिक्षक आये दिन नदारद रहते हैं। स्वास्थ्य सेवाओं का बुरा हाल है, न डाक्टर है, न दवाएँ मिलती हैं।

यानी भारत में एक साथ दो दुनियाएँ मौजूद हैं एक दुनिया उन धनाढ्यों की है जिनके समृद्धि के मीनारे दूसरी दुनिया के दरिद्रता के सागर पर टिकी हुई है। अब सवाल यह है कि कोई देश समृद्धि और विकास के शिखर पर जिनकी मेहनत से पहुँचता है, वो खुद किस स्थिति में जी रहे हैं। इसपर यदि एक नज़र डाली जाये तो दिखाई देता है कि एक अरब दस करोड़ वाले इस देश में अस्सी करोड़ लोग जीवन की बुनियादी सुविधाओं से भी वंचित हैं उनके हिस्से केवल बेरोजगारी, गरीबी, निरक्षरता, गृहविहीनता, बीमारी आदि ही आयी है। ऐसे में मुट्ठीभर अरबपतियों के बारे में मीडिया द्वारा दुनिया भर में डंका पीटना, उनका गुणगान करना, और इसे देश के विकास से जोड़ना अपराध नहीं तो और क्या है?

यह मीडिया के असली चरित्र को ही उजागर करता है और बताता है कि पूरा मीडिया जगत पूँजीपतियों का भोंपू ही है और उसकी आवाज के शोर और चमक-दमक में इस देश की अस्सी फीसदी मेहनतकश अवाम की आवाज दब जाती है और चेहरा छिप जाता है। लेकिन शायद उसे नहीं मालूम कि जिस दिन मेहनतकश अवाम जगता है उस दिन सारी चमक गायब हो जाती है

जूता फैक्ट्री–जहाँ अन्तहीन शोषण के जूते तले रौंदे जाते हैं मजदूर

नोएडा संवाददाता

सुबह नौ बजे सभी मशीने चालू हो जाती हैं। साथ ही शुरू हो जाता है बेहतरीन और उम्दा जूतों के निर्माण का उत्पादन कार्य। काम की गति मशीन से भी तेज होती है और इसे बनाऐ रखने के लिए लगातार सुपरवाइज़रों की नजरें गिद्ध की तरह चारों ओर घूमती रहती हैं।

इन बेहतरीन जूता बनाने वालों पर शोषण और दमन का जूता प्रतिदिन और प्रतिपल बढ़ता रहता है। मज़दूरों के साथ सुपरवाइजरों और मालिकों का बर्ताव जानवरों जैसा होता है। फैक्ट्री मालिक दो भाई हैं और मज़दूरों के साथ गाली-गलौज और मार-पीट दोनों की दिनचर्या का हिस्सा है। सुपरवाइजर भी सिर्फ़ इसी काम के लिए आज़ाद होता है। जरा-सी गलती या काम में थोड़ी सी नरमी उसे पसन्द नहीं। पानी पीने में व्यय होने वाला समय भी, मालिक ने चालाकी से नल को एक कोने में लगवाकर कम कर दिया है। हर पाँच मिनट पर एक सुपरवाइजर वहाँ पर राउण्ड मारता है और फटाफट पानी पीकर काम पर वापस जाने के लिए गालियों की बौछार करता है। शौचालय का भी समय बाँध दिया गया है। 10 से 12.30 बजे दिन और 2 से शाम 5 बजे के बीच तथा ओवर टाइम में पूर्णतया पाबन्दी यानी की शौचालय पर ताला जड़ दिया जाता है।

सुविधाओं के नाम पर सप्ताह में एक छुट्टी तथा चार-पाँच साल में परमानेण्ट का आश्वासन और मालिक की मर्जी पर वेतन में सौ-पचास की वृद्धि। यह चन्द टुकड़े मालिक मज़दूरों के बीच फेंककर उनसे दबाकर काम लेता है। यहाँ आपको किसी तरह का सवाल करने का कोई अधिकार नहीं है। सिर्फ़ और सिर्फ़ गन्दी गालियाँ सुनना और मार खाना और चुपचाप काम करने का अधिकार है। शोषण और दमन की यहाँ कोई इन्तेहाँ नहीं है। वेतन की अदायगी भी दूसरे महीने की 22 तारीख से 25 तारीख के बीच में होती है। या फिर इससे भी लेट। मतलब साफ है मालिक 22 दिन का वेतन अपने हाथ में रखता है। यदि अपने मन से काम छोड़े तो 22 दिन की पेमेण्ट गई।

नियम आइने की तरह साफ है करना है तो करो वरना खाक छानते फिरो। किसी न किसी कारण से यहाँ पर हर महीने कुछ मज़दूर काम छोड़कर चले जाते हैं। जो बचे रहते हैं वे नियतिवाद और भाग्यवाद की बैसाखी पर जीते हैं। काम के 12 घण्टे अनिवार्य है, उसके बाद लंच वगैरह जोड़कर 13 घण्टे हो जाते हैं।

आपस में मज़दूरों की एकता कायम न हो इसका भी खास ख्याल रखा जाता है। जाति और क्षेत्र के नाम पर गालियों के द्वारा लगातार दूरी बनायी जाती है। काम के सारे समय खड़े होकर काम करना है। प्रकाश और हवा की व्यवस्था उत्पाद के लिए है ना कि उत्पादनकर्ता के लिए। दोपहर का पूरा समय पसीने और चिपचिपाहट से भरा होता है। सुपरवाइजर मर्जी के मुताबिक एक काम से दूसरे काम पर लगा सकता है। लगभग तीन हज़ार जोड़ी जूते प्रतिदिन बनते तथा पैक होते हैं। जूतों की क्वालिटी तथा बनावट के आधार पर मूल्य तय किया जाता है। फैक्ट्री में बनने वाला हर तरह का लेदर जूता बाहरी देशों–स्पेन, यूएसए, जर्मनी आदि देशों में बेचा जाता है। जूते की एक जोड़ी की कीमत 2800 से लेकर 4400 तक होती है। अब आसानी से समझा जा सकता है कि खुलेआम लूट जारी है। दमन के जबड़े में रोज हर कोई पिसता है।

इस अन्याय, शोषण और दमनकारी ताकतों से न्याय की गुहार लगाना बेकार है और यह लूट पर जारी व्यवस्था तब तक जारी रहेगी जब तक हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे।

सामाजिक जनवाद : विश्व-पूँजीवाद.....

पेज 8 से आगे

मज़दूर आन्दोलन के भीतर छुपे विभीषण, जयचन्द और मीर जाफ़र कहा जाता है।

बुद्धदेव भट्टाचार्य ने अपने इण्टरव्यू में चीन में 1978 के बाद जिन बदलावों के कसीदे काढ़े हैं वे क्या हैं? 1978 के बाद से चीन में समाजवाद की खोल ओढ़े पूँजीवाद का धड़ल्ले से विकास हो रहा है। समाज के वर्ग विभेदों को खत्म करने, आय के वितरण में असमानता को क्रमशः कम करते जाने–मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच, उद्योग व कृषि के बीच तथा गाँव व शहर के बीच के अन्तरों को पाटने की दिशा में जो समाज 1949 से लेकर 1976 तक आगे बढ़ रहा था उसकी दिशा उलट दी गयी। राज्य सत्ता पर मेहनतकश अवाम का नियंत्रण था उसपर माओ की मृत्यु के बाद पार्टी और राज्य के भीतर कुण्डली मारकर बैठे पूँजीवादी पथगामियों द्वारा नियंत्रण कर लिया गया। साजिश और दमन के जरिये राज और समाज की सभी नियंत्रणकारी चोटियों पर कब्ज़ा जमा लेने के बाद देङ सियाओ पिङ के नेतृत्व में 1978 में निर्णायक रूप में उन तथाकथित "सुधारों" की शुरुआत हुई जिनकी बदौलत आज चीन देशी-विदेशी पूँजी के लिए स्वर्ण और मेहनतकश जनता के लिए नर्क बन चुका है। चीन की सरकार में बैठे हुए नेता आज भी अगर कम्युनिस्ट पार्टी का नाम ज़िन्दा रखे हुए हैं और लाल झण्डा उड़ाते हैं तो महज मेहनतकश अवाम को गुमराह करने के लिए। ठीक भाकपा, माकपा और भाकपा (माले) जैसी देशी संसदीय वामपन्थी पार्टियों की तरह। इसीलिए, अगर बुद्धदेव भट्टाचार्य की जमात 1978 के बाद के चीन और देङ सिआओ पिङ जैसे अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन के इतिहाससिद्ध गद्दार हैं। ये पूँजी के चाकर और पूँजीवादी जनवाद के पैरोकार हैं। ये मज़दूर वर्ग की अगुवाई में मेहनतकश जनता की क्रान्ति के जरिये जनप्रतिनिधित्व की सच्ची जनवादी संस्थाओं के निर्माण की जगह पूँजीवादी संसदों के सूअरबाड़े में लोट लगाने को लालायित रहते हैं। इसीलिए वे पूँजीवादी जनवाद का गुणगान करते नहीं अघाते।

आज दुनिया भर में किसिम-किसिम के ये सामाजिक जनवादी विश्व पूँजीवाद को महती सेवाएँ प्रदान कर रहे हैं और उसके दुर्गों की मुस्तैदी के साथ हिफाजत में जुटे हुए हैं। मज़दूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश अवाम को इनके झाँसे में नहीं आना चाहिए। वैसे वह दिन बहुत दूर भी नहीं है जब विश्व पूँजीवाद का गहराता संकट इनके मुखौटों को खुद ही उतारकर फेंक देगा। इसकी शुरुआत अभी ही हो चुकी है। पश्चिम बंगाल की वाम मोर्चा सरकार जिस बेशर्मी के साथ इण्डोनेशिया के हत्यारे उद्योग समूह सलेम, देशी समूहों रिलायंस और टाटा के प्रोजेक्टों को पूरा करवाने में जुटी है वह इसी का संकेत है कि इनके द्वारा भूमण्डलीकरण के क्रूर चेहरे पर मानवीय मुखौटा लगाने की कवायद बहुत दिनों तक चलने वाली नहीं। मेहनतकश जमात को ज्यादा इन्तज़ार नहीं करना होगा जब इनके सारे छल-छद्म उजागर हो जायेंगे और वे पूरी नंगई के साथ पूँजी के खेमे में हथियारों से लैस खड़े नज़र आयेंगे। तब मेहनतकश जमात की आँखों पर पड़ा झीना पर्दा भी उतर जायेगा।

–आनन्द देव

मीडिया के महानुभावो! किस संसद की मर्यादा बचाने की गुहार लगा रहे हो?

विशेष संवाददाता

दिल्ली। बीते 24 अगस्त को लोकसभा में राजद और जद (यू) के सदस्यों के बीच जिस भद्दी भाषा में गाली-गलौज हुई और हाथापाई की नौबत तक जा पहुँची उस पर देश के प्रमुख पूँजीवादी अखबारों में बेहद चिन्ताकुल स्वर में सम्पादकीय लिखे गये। 'संसद की मर्यादा तार-तार होने', 'गरिमा धूल-धूसरित होने' पर जार-जार आँसू बहाते हुए दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र में जनता के आस्था बचाने की गुहार लगाई गयी।

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बाद 'लोकतंत्र' के 'चौथे स्तम्भ' को मजबूती के साथ थामने का भ्रम पाले हुए मीडिया के इन सम्मानित महानुभावों से पूछा जाना चाहिए कि आखिर आप क्यों उस संसद की गरिमा के चूर-चूर होने पर विधवा-विलाप कर रहे हैं जहाँ बैठकर "माननीय" सांसद जनता को लूटने-निचोड़ने और पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरने के लिए एक से बढ़कर एक काले-कानून बनाये जाते हैं। संसद में बैठने वाले पूँजीपतियों के स्वामिभक्त कुत्तों से आप शालीन और मर्यादित आचरण की उम्मीद क्यों पालते हैं। आप क्यों डर रहे हैं कि देश के इस कथित लोकतंत्र के प्रति जनता की आस्था टूट जायेगी। जो "लोकतंत्र" देश की बहुसंख्यक मेहनतकश जनता को तबाही-बर्बादी और लाठी-गोली के सिवा कुछ और दे नहीं सकता उससे तो जनता ही आस्था निश्चित ही टूट जानी चाहिए। तभी तो वह विकल्पों के बारे में सोचेगी। कहीं ऐसा तो नहीं कि आप इसलिए फिक्रमन्द हैं कि जनता सचमुच विकल्पों के बारे में न सोचने लगे। अगर आपकी असली चिन्ता यही है तो फिर आप पूँजीपतियों के भाड़े का कलमघसीट कहे जाने पर दुखी और नाराज क्यों होते हैं?

ऐसी है देश की "गरिमामयी" संसद

- मौजूदा लोकसभा के 16 प्रतिशत सांसदों का आपराधिक इतिहास है।
- युवा सांसद अधिक दागी
- 36 से 45 वर्ष आयु वर्ग के 30 फीसदी सांसद दागी। इनमें 18 फीसदी पर गम्भीर आरोप
- सबसे ज्यादा आपराधिक मामले उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड और मध्य प्रदेश के सांसदों पर
- सांसदों ने मौजूदा लोकसभा का 26 फीसदी वक्त विवादों में जाया किया है।
- राज्यसभा के सांसदों ने 29 फीसदी समय विवादों में जाया किया है।
- मौजूदा लोकसभा के पहले दो सत्रों में 38 फीसदी समय में सिर्फ़ हंगामा ही होता रहा।
- वर्ष 1951 में दोनों सदनों की कार्यवाही का खर्च एक सौ रुपये प्रतिमिनट था जो अब 20 हज़ार रुपये प्रतिमिनट हो गया है।

(स्रोतः 'सोशल वाच' द्वारा विकास और शासन पर जारी रिपोर्ट)

नारी सभा

पूँजीवादी न्यायशीलता का पाखण्ड!

बिगुल संवाददाता

दिल्ली। अभी पिछले दिनों जर्मन महिला पर्यटक के बलात्कार के मामले में फास्ट ट्रैक अदालत ने जिस तेजी का परिचय दिया और एक माह के अन्दर उसके आरोपी टैक्सी चालक व उसके साथी को सजा सुना दी उससे हमारी पढ़ी-लिखी आबादी न्यायपालिका की न्यायशीलता पर मुग्ध-अभिभूत हो उठी। इससे पहले भी मौलाना आजाद मेडिकल कालेज की छात्रा के साथ हुए बलात्कार में न्यायालय के त्वरित फैसले ने लोगों में इस लुटेरी व्यवस्था से न्याय पाने की उम्मीद जगायी थी। यहाँ प्रश्न यह है कि दोनों ही मामलों में आरोपी का निम्न आय वर्ग का होना क्या महज इत्तेफाक है? या यह "न्यायिक सक्रियता" पूँजीवादी न्यायपालिका के वर्गीय पूर्वाग्रहों से पैदा हुई है।

यदि सचमुच देश की न्यायपालिका सबके लिए समान न्याय के सिद्धान्त पर चलती है तो चंडीगढ़ की लान टेनिस की खिलाड़ी रुचिका को (जिसने आरोपी के यौन उत्पीड़न और प्रताड़नाओं से तंग आकर 1990 में आत्महत्या कर ली थी) 16 वर्षों के बाद भी न्याय क्यों नहीं मिला। गौरतलब है कि इस मामले में आरोपी हरियाणा का पूर्व डी.जी.पी. एस.पी. एस राठौर (जो उन दिनों लान टेनिस एसोसिएशन का अध्यक्ष था) एक हैसियतदार व्यक्ति का दर्जा रखता था और राज्यसत्ता के खाने वाले दाँतों में से एक था। न्यायपालिका तो फिर भी आखिरकार दिखाने वाला दाँत ही है। न्याय भंवरी देवी को भी आज तक नहीं मिला क्योंकि जिन व्यक्तियों ने भंवरी देवी को दण्ड देने के नाम पर उनके साथ बलात्कार किया था वे उच्च वर्ग के और समाज के दबंग लोग थे। उसी न्यायपालिका की न्यायशीलता का आलम यह था कि यह मामला इसलिए खारिज कर दिया गया था क्योंकि अदालत की निगाह में सवर्ण हिन्दू भंवरी देवी जैसी किसी 'दलित' से, जो उनके लिए अस्पृश्य होती है, बलात्कार कर ही नहीं सकते। पूँजी और पितृसत्ता की दोहरी मार झेलने वाले समाज के सर्वाधिक शोषित उत्पीड़ित तबके के साथ न्याय व्यवस्था का यह बर्ताव उसके चरित्र को खुद ही बेनकाब कर देता है।

जाहिर है कि समाज के दूसरे कमजोर वर्गों के प्रति उसका यही रवैया होगा और है भी। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण दिल्ली के रिहाइशी इलाकों से उद्योग धन्धों को हटाने का निर्णय था जिसमें पर्यावरण की चिन्ता तो अदालत को थी लेकिन इस फैसले के चलते उजड़ने वाले मज़दूरों को रोजगार मुहैया कराये जाने से अदालत को कोई मतलब नहीं था। शोषक-शासक वर्ग के पक्ष में खड़ी इस पूरी की पूरी न्याय प्रणाली से भला मज़दूरों और कमजोर वर्गों के हित में फैसले की उम्मीद ही कैसे की जा सकती है।

न्याय व्यवस्था की ईमानदार सक्रियता के प्रति लोगों का भ्रम बना रहे और उसका पूँजीपरस्त और जनविरोधी चरित्र आम जन की नजरों से ढँका-छिपा रहे, इसके लिए बीच-बीच में कुछ कवायदें और बयानबाजियाँ भी होती रहती हैं। अभी हाल ही में देश के हुक्मरानों के सबसे दुलारे मुनीम मनमोहन सिंह ने अखबारों में एक बयान देकर, 'न्यायप्रणाली की गुणवत्ता और उसकी प्रभावशीलता पर गर्व' जताया। परन्तु दूसरे ही क्षण श्रीमती सच्चाई उनकी जुबान पर आ बिराजी—'न्यायपालिका में इमानदारी की कमी है'... 'हमें जरूरत है और मानवीय और चाकचौबन्द न्यायपालिका की'... 'अदालतों को संवेदनशील बनाये जाने की जरूरत है' आदि। जाहिर है न्यायपालिका की नकली न्यायशीलता के तार-तार होते पर्दे और इसके अंजाम का भय सत्ता की नुमाइन्दगी करने वालों को भी आज सबसे ज्यादा इसलिए सता रहा है कि पूँजी के जुए तले पिस रहे आम आदमी का भरोसा यदि राज्य के इस अंग से भी उठ गया तो फिर न राजकाज का यह ढाँचा बच पायेगा, न उसके पैरोकार और न उसे चलाने वाले उसके मुनीम।

इस व्यवस्था को नेस्तनाबूत करके ही मुरझाते बचपन में हरियाली लायी जा सकती है

सरकार आजकल हिन्दुस्तान के गरीब बच्चों के दुख से बहुत दुखी है। छोटे-छोटे बच्चों को होटलों-ढाबो में प्लेट धोते, चाय सर्व करते हुए, साइकिल का पंचर जोड़ते, घरेलू नौकरों के रूप में काम करते देखकर सरकार का दिल दुख से भर गया है। और अपने इस दुख को दूर करने के लिए सरकार ने बाल श्रम को रोकने और बच्चों की स्थिति को सुधारने के लिए एक आदेश जारी किया है जिसके तहत इसी दस अक्टूबर से बच्चों को घरेलू नौकर या सड़क के किनारे की दुकानों और ढाबो में काम करने पर पाबन्दी लगा दी गयी है। यह पाबन्दी श्रम मंत्रालय ने बाल श्रम (निषेध और नियमन) कानून 1986 के तहत लगायी है और चेतावनी दी गयी है कि यदि कोई बच्चों को रोजगार देगा तो उस पर कानूनी कार्रवाई की जायेगी।

अब जरा इस स्थिति पर गौर करें कि ये छोटे-छोटे बच्चे जिनकी उम्र खेलने और पढ़ने की है उन्हें इन अमानवीय स्थितियों में डालने की असली जिम्मेदारी किसकी है?

बीड़ी, कालीन, सीमेण्ट, माचिस, पटाखा, फुटबॉल, चूड़ी आदि कई खतरनाक उद्योगों में ज्यादातर बच्चों को काम पर लगाया जाता है। इसके पीछे कम से कम मज़दूरी में ज्यादा से ज्यादा मुनाफ़ा कमाने का मकसद छिपा होता है। इन उद्योगों में काम करने वाले बच्चों से बेहद अमानवीय परिस्थितियों में 14-16 घण्टे तक काम लिया जाता है। 8-10 साल की उम्र से काम करने वाले ये बच्चे 14-15 साल की उम्र आते-आते टीबी के मरीज हो जाते हैं, उन्हें साँस की कई बिमारियाँ लग जाती हैं, उनकी आँखें कमजोर हो जाती है, चेहरे मुरझा जाते हैं। और ज्यादातर बच्चे असमय ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

दूसरी ओर घरों में नौकरों के रूप में या ढाबों-होटलों में काम करने वाले बच्चे दिन भर डाँट, ताने, उलाहने, मारपीट सहते हुए इन अमानवीय स्थितियों में काम करने को मजबूर होते हैं। जहाँ उन्हें इंसान का दर्जा भी नहीं हासिल होता है। दिनों-रात की हाड़तोड़ मेहनत के बाद ये मुश्किल से ही दो जून रोटी भी जुटा पाते है। स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास आदि जैसी बुनियादी जरूरतों के बारे में तो ये सोच भी नहीं सकते हैं।

इन बच्चों का कार्यस्थल पर होने वाला यौन शोषण दिल दहलाने वाले हैं। इसका जो दुष्परिणाम इन भुक्तभोगी बच्चों पर पड़ता है वह इस समाज व्यवस्था की पोल खोल देती है, घरों में काम करने वाली लड़कियों की हालत तो और बदतर है, उनके यौन शोषण की घटनाएँ समय वा समय उजागर होती रहती है।

अब सवाल उठता है कि क्या इन बच्चों को इन परिस्थितियों में काम करने का शौक होता है? या इनके माँ-बाप का अपने बच्चों से कोई लगाव या प्यार नहीं होता हैं जिससे कि वे उन्हें ऐसी परिस्थितियों में जीने को मज़बूर करते हैं? गरीब माँ-बाप के सीने में दिल नहीं होता है या वे आलसी और आरामतलब होते हैं जो खुद मेहनत करने की जगह अपने बच्चों को हाड़तोड़ जानलेवा मेहनत के काम में लगाकर आराम का जीवन व्यतीत करते हैं?

उद्योगों में मज़दूरी से लेकर घरों में नौकरों के रूप में काम करने वाले बच्चों की आर्थिक सामाजिक स्थिति पर यदि नजर डाला जाये तो असली सच्चाई सामने आ जाती है। ये वे बच्चे हैं जिनके माँ-बाप और पूरा परिवार हाड़तोड़ मेहनत के कामों में लगा होने के बावजूद भी अपने परिवार के लिए मुश्किल से दो जून रोटी जुटा पाते हैं। जिस समय उन्हें बच्चों को स्कूल भेजना चाहिए वे फैक्ट्री या होटलों-ढाबो, घरों में काम करने के लिए भेजते हैं, यदि वे ऐसा न करें तो उनके लिए जीवन को चलाना ही मुश्किल हो जाये। ये माँ-बाप अपने सीने पर पत्थर रखकर एक-एक पल अपने बच्चे को मरता हुआ देखने को विवश होते हैं। दूसरी तरफ इन बच्चों के सस्ते श्रम से उद्योगों के मालिक मुनाफ़ा पीटते हैं और दुनिया की तमाम सुविधाओं का उपभोग करते हैं, इन बच्चों की मेहनत की ही बदौलत ये मालिक वर्ग आरामतलबी का जीवन बिताते हैं।

सन् 1848 के फैक्ट्री अधिनियम के तहत बीड़ी, कालीन, सीमेण्ट, माचिस और पटाखा उद्योग, भवन निर्माण सहित कई अन्य कामों में अनुसूची-बी के तहत बच्चों से काम कराने की पाबन्दी थी पर इसके बावजूद इनमें से ज्यादातर उद्योगों में धड़ल्ले से बच्चों के श्रम का शोषण किया जाता रहा है। और अब बच्चों से मज़दूरी कराये जाने पर रोक का यह नया कानून।

दरअसल कानून का खेल खेलकर यह व्यवस्था जनता को एक और भ्रम से बाँधना चाहती है कि वो बच्चों को इन स्थितियों से निकालेगी, जैसे इन स्थितियों को बनाये रखने की जिम्मेदारी उसकी नहीं किसी और की है। वह इस बात पर परदा डालना चाहती है कि मुनाफ़े की यह व्यवस्था मेहनतकशों की लूट पर ही टिकी हुई है और इसे बनाये रखने में ही उसका हित छिपा हुआ है। मेहनतकश अवाम को इस मानवीय चेहरे के पीछे की सच्चाई और इस व्यवस्था के दोगले चरित्र को समझना होगा और सच्चाई को जानना होगा कि बच्चों के सस्ते श्रम के लूट पर टिकी मुनाफ़े की इस व्यवस्था में बच्चों की खुशहाली वापस नहीं लायी जा सकती। अमानवीय श्रम के लिए विवश बच्चों की उन जीवन स्थितियों को खत्म किये बिना मुरझाते हुए बचपन के चेहरे पर हरियाली नहीं लायी जा सकती।

तो बच्चों के दुख से दुखी इस सरकार के दुख को दूर करने के लिए और इन बच्चों की आँखों में चमक लाने के लिए इस व्यवस्था की पहरेदार सरकारों सहित पूरी व्यवस्था को नेस्तनाबूत करने की जिम्मेदारी सर्वहारा वर्ग को अपने कन्धों पर उठानी होगी।

—बागेश्वरी

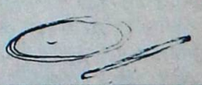

बोलते आँकड़े.... चीखती सच्चाइयाँ..

राजधानी में अमीरी–गरीबी की खाई

पिछले दिनों दिल्ली राज्य सरकार के वित्त एवं योजना मंत्री डॉ. अशोक कुमार वालिया ने दिल्ली में पारिवारिक क्षेत्र की सम्पत्तियों और देनदारियों की रिपोर्ट जारी की। आर्थिक एवं सांख्यिकीय निदेशालय ने यह रिपोर्ट 2003 के दौरान किये गये राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आधार पर तैयार की है। रिपोर्ट यह बताती है कि देश के अन्य भागों की तुलना में दिल्ली कैसे समृद्ध हो रही है। दिल्ली में प्रति व्यक्ति सम्पत्तियों का औसत मूल्य राष्ट्रीय औसत मूल्य से लगभग ढाई गुना अधिक है। यह पूँजीवाद के तहत असमान विकास का ही आइना है। पूँजीवादी विकास के तहत आम तौर पर शहर गाँवों से पिछड़ते जाते हैं और छोटे शहर महानगरों से पिछड़ते जाते हैं। लेकिन दिल्ली के विकास की असली तस्वीर उन आँकड़ों से उभरती है जिनमें इस सम्पत्ति का आबादी के विभिन्न हिस्सों में वितरण दर्शाया गया है। दिल्ली के विकास की असल तस्वीर निम्न आँकड़ों में देखिये :

- दिल्ली के केवल 0.72 प्रतिशत परिवारों के पास एक करोड़ रुपये या उससे अधिक की सम्पत्ति है।
- केवल 1.04 प्रतिशत परिवारों के पास 50 लाख या उससे ऊपर की सम्पत्ति है।
- केवल तीन प्रतिशत परिवारों के पास 30 से 50 लाख रुपये की सम्पत्ति है।
- 14 फीसदी परिवारों के पास 10 से 20 लाख रुपये की सम्पत्ति है।
- 13 फीसदी परिवारों के पास 5 से 10 लाख रुपये की सम्पत्ति है।
- 37 फीसदी परिवारों के पास 50 हज़ार से 5 लाख रुपये की सम्पत्ति है।
- 31 फीसदी परिवारों की औसत सम्पत्ति का मूल्य 50 हज़ार रुपये से कम है।

ये आँकड़े दिल्ली की गरीब आबादी की ज़िन्दगी की समूची तस्वीर नहीं उभारते क्योंकि निचली 67 प्रतिशत (37+31 प्रतिशत) आबादी के बीच सम्पत्ति का वितरण दर्शाने वाले नीचे और ऊपर के मूल्यों में काफी अन्तर है। फिर भी इन नाकाफी आँकड़ों के आइने में भी दिल्ली में अमीरी-गरीबी की खाई की एक झलक तो मिल ही जाती है।

कविता

गजानन माधव मुक्तिबोध की पुण्यतिथि (11 सितम्बर) के अवसर पर उनकी एक कविता

पूँजीवादी समाज के प्रति

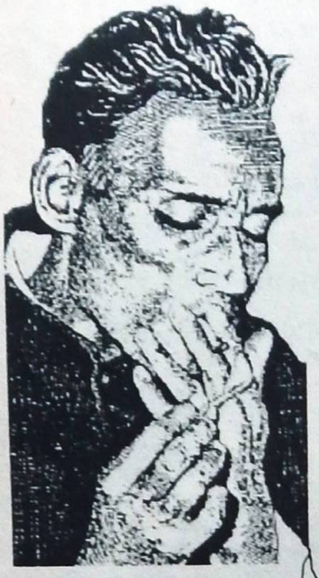

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि
इतना ज्ञान, संस्कृति और अन्तः शुद्धि
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौन्दर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर-भक्ति,
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द
जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बन्ध
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुन्दर जाल
केवल एक जलता सत्य देते टाल।
छोड़ो हाय, केवल घृणा औ' दुर्गन्ध
तेरी रेशमी वह शब्द-संस्कृति अन्ध
देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध

तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त में भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे हास में भी रोग-कृमि है उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र।
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चलें अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।

चीनी जनता के महान लेखक लू शुन के जन्मदिवस (25 सितम्बर) के अवसर पर

अक्लमंद, मूर्ख और गुलाम

लू शुन

एक गुलाम हरदम लोगों की बाट जोहता रहता था, ताकि उन्हें अपना दुखड़ा सुना सके। वह बस ऐसा ही था और बस इतना ही कर सकता था। एक दिन उसे एक अक्लमंद आदमी मिल गया।

"मान्यवर!" वह उदास स्वर में रोते हुए बोला, उसके गालों पर आँसुओं की धार बह चली, "आप जानते हैं, मैं कुत्ते की जिन्दगी जी रहा हूँ। मुझे दिन भर में एक बार भी खाना नसीब नहीं, और अगर मिलता भी है तो बस वही बाजरे की भूसी, जिसे सूअर भी नहीं खाता। और उसकी भी क्या कहूँ जो एक छोटी कटोरी भर से ज्यादा नहीं मिलता...।"

"यह तो वाकई बहुत बुरा है", अक्लमंद आदमी ने सहानुभूति जतायी।

"और क्या?", वह कुछ उत्तेजित हो उठा, "मैं सारा दिन और सारी रात खटता रहता हूँ। पौ फटते ही मुझे पानी भरना पड़ता है, साँझ को मैं खाना पकाता हूँ, सुबह मैं सींप गये काम निपटाता हूँ, शाम को मैं गेहूँ पीसता हूँ, जब मौसम अच्छा होता है तो मैं कपड़े धोता हूँ, और जब बारिश होती है तो मुझे छाता थामना पड़ता है, जाड़े में मैं अँगीठी सुलगाता हूँ, और गर्मी में पंखा झलता हूँ। आधी रात को मैं खुम्मियाँ उबालता हूँ और जुआरियों की पार्टियों में व्यस्त अपने मालिक का इन्तजार करता हूँ। लेकिन कभी मुझे कोई बख़्शीश नहीं मिलती, बस जब-तब चाबुक ही खानी पड़ती है।"

"मेरे प्यारे—" अक्लमंद आदमी ने निःश्वास छोड़ी। उसकी आँखों के किनारे कुछ-कुछ लाल हो चुके थे, मानो अब वह रो देने वाला हो।

"मैं ऐसे नहीं जी सकता, मान्यवर। मुझे कोई न कोई उपाय ढूँढ़ना ही होगा। लेकिन मैं क्या करूँ?"

"मुझे विश्वास है कि हालात जरूर सुधरेंगे...।"

"क्या आप ऐसा सोचते हैं? निश्चय ही मैं इसकी उम्मीद करता हूँ। लेकिन अब जबकि मैंने आपको अपना दुखड़ा सुना दिया है और आपने इतनी हमदर्दी के साथ मेरा हौसला बढ़ाया है, मैं पहले से बेहतर महसूस कर रहा हूँ। इससे जाहिर होता है कि अभी भी दुनिया में कुछ इन्साफ है।"

हालाँकि थोड़े ही दिन बाद वह फिर उदासी से भर उठा और अपना दुखड़ा सुनाने के लिए किसी दूसरे आदमी से मिला।

"मान्यवर! उसने आँसू बहाते हुए उसे सम्बोधित किया, "आप जानते हैं, जहाँ मैं रहता हूँ वह सूअरबाड़े से भी बदतर जगह है। मेरा मालिक मुझे आदमी नहीं समझता। वह अपने कुत्ते को मुझसे दस हजार गुना बेहतर समझता है...।"

"उसका सत्यानाश हो!" दूसरे व्यक्ति ने इतने जोर से गाली दी कि गुलाम भौंचक्का रह गया। यह दूसरा आदमी मूर्ख था।

"मैं जिसमें रहता हूँ, मान्यवर, वह टूटी-फूटी एक कमरे वाली झोंपड़ी है, जिसमें सीलन, ठण्डक और बेशुमार खटमल हैं। ज्यों ही मैं सोने जाता हूँ वे काटने लगते हैं। वह जगह बदबू से भरी हुई है और उसमें एक भी खिड़की नहीं है....।"

"क्या तुम अपने मालिक से एक खिड़की बनवाने के लिए कह सकते हो?"

"मैं कैसे कह सकता हूँ?"

"ठीक है, मुझे दिखाओ वह जगह कैसी है।"

मूर्ख आदमी गुलाम के पीछे-पीछे उसकी झोपड़ी में गया और मिट्टी की दीवार पर चोट करने लगा।

"यह आप क्या कर रहे हैं, मान्यवर?"

गुलाम डर गया था।

"मैं तुम्हारे वास्ते एक खिड़की खोल रहा हूँ।"

"यह ठीक नहीं होगा। मालिक मुझे मारेगा।"

"मारने दो।" मूर्ख आदमी दीवार पर चोट करता रहा।

"दौड़ो! एक डाकू घर तोड़ रहा है। जल्दी आओ नहीं तो वह दीवार ढहा देगा...।" चिल्लाते-सिसकते वह गुलाम पागलों की भाँति जमीन पर लोटने लगा। गुलामों का एक पूरा दल ही उमड़ आया और उस मूर्ख को खदेड़ दिया। इस हल्ले-गुल्ले को सुनकर जो सबसे आखिर में धीरे-धीरे बाहर आया वह मालिक था।

"एक डाकू हमारे घर गिरा देना चाहता था। मैंने सबसे पहले खतरे की सूचना दी, और हम सबने मिलकर उस मूर्ख को खदेड़ दिया।" गुलाम ने ससम्मान और विजय गर्व से कहा।

"तुम्हारा भला हो!" मालिक ने उसकी प्रशंसा की।

उस दिन हमदर्दी दिखाने कई लोग आये, जिनमें वह अक्लमंद आदमी भी था।

"मान्यवर, चूँकि मैंने अपने को काम लायक सिद्ध किया, इसलिए मालिक ने मेरी प्रशंसा की। आप सचमुच दूरदर्शी हैं, आपने उस दिन कहा था कि हालात सुधरेंगे," वह बहुत आशान्वित और खुश होकर बोला।

"यह सही है...।" अक्लमंद आदमी ने जवाब दिया, और वह भी अपने पर खुश लग रहा था।

पंजीयन संख्या - 71980/99, डाक पंजीयन संख्या - LW-NP/349/2006-08

विशेष आर्थिक क्षेत्र—हर्रे लगे न फिटकरी रंग चोखा

बिगुल संवाददाता

भूमण्डलीकरण-उदारीकरण की नीतियों के तहत विगत 16 वर्षों के दौरान मज़दूर वर्ग को लूटने के लिए जितनी नीतियाँ बनाई गई वो सरकार को नाकाफ़ी लग रही थी, कारण कि उन नीतियों से मज़दूरों का उतना खून नहीं चूसा जा पा रहा था जिससे वह पूँजीपतियों के मुनाफ़े में आशानुकूल वृद्धि की जा सके। इसलिए सरकार ने पूँजीपतियों के मुनाफ़े में बेतहाशा बढ़ोत्तरी के लिए एक और रास्ता खोज निकाला है और वह है इस देश में 'विशेष आर्थिक क्षेत्रों' (स्पेशल इकोनॉमिक जोन) का निर्माण।

'विशेष आर्थिक क्षेत्र' के निर्माण की कल्पना चीन से ली गयी है। इसके अन्तर्गत देश के कुछ क्षेत्रों को विदेशी क्षेत्र घोषित करते हुए वहाँ पर सीधे विदेशी निवेश आमंत्रित करने की सोच काम कर रही है। यह एक ऐसा क्षेत्र होगा जहाँ स्थापित होने वाले निर्यात आधारित उद्योगों को देश के करों और कानूनों से अनेक तरह की छूट सुविधायें और मदद दी जायेगी। यानी ये व्यापार करों और शुल्कों की दृष्टि से 'विदेशी क्षेत्र' माने जायेंगे। और भारत के नियम कानून और कर यहाँ नहीं लागू होंगे।

सरकार की ओर से ऐसे 150 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' के निर्माण की योजना है जिसमें से कुछ को स्वीकृति दी जा चुकी है। मालूम हो कि 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' का कानून बनने के पूर्व भी भारत में पन्द्रह विशेष आर्थिक क्षेत्र काम कर रहे थे। देश के सबसे बड़े उद्योगपतियों में से एक मुकेश अंबानी की रिलायंस कम्पनी द्वारा नवीं मुम्बई, हैदराबाद, गुड़गाँव और जामनगर में बहुत बड़ा विशेष आर्थिक क्षेत्र विकसित किया जा रहा है। इसके अलावा कोलकोता के पास भी ऐसा क्षेत्र बनाने के लिए पश्चिम बंगाल सरकार से उनकी वार्ता चल रही है। मज़दूर वर्ग की नुमाइन्दगी का दम भरने वाली सी.पी.एम. की सरकार द्वारा भी हल्दिया में चीनी मॉडल पर दो 'विशेष आर्थिक जोन' का निर्माण प्रस्तावित है। इसके अतिरिक्त एस्सार, भारत फोर्ज, अदारी, विप्रो, सत्यम, बायोकोन, बजाज, नोकिया, केडिया आदि उद्योग जगत के अनेक बड़े नाम विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाने में लग गये हैं।

'विशेष आर्थिक जोन' बनाने के लिए राज्य सरकारें खुल्लमखुल्ला पूँजीपतियों को बाजार दरों से काफी कम दर पर ज़मीन इनके हवाले कर रही है और इसके लिए किसानों से काफी कम दरों पर ज़मीन जबर्दस्ती ली जा रही है और उन्हें गाँवों से उजाड़ा जा रहा है। उल्लेखनीय है, रिलायंस का 'महामुम्बई विशेष आर्थिक क्षेत्र' पैंतीस एकड़ में फैला हुआ है जो मुम्बई महानगर के एक तिहाई क्षेत्रफल के बराबर है और इसके लिए पैंतालिस गाँवों की ज़मीन महाराष्ट्र सरकार ने अधिग्रहित की है। किसानों की इस ज़मीन की कीमत बीस लाख से चालीस लाख रुपये प्रति एकड़ है जिसे महाराष्ट्र सरकार सवा लाख रुपये से लेकर दस लाख एकड़ की दर से रिलायंस को देने की कवायद में लगी हुई है। इस प्रोजेक्ट के विरोध में किसानों ने 'महामुम्बई शेतकारी संघर्ष समिति' का गठन करके आन्दोलन भी शुरू कर दिया है। इसी तरह से हरियाणा सरकार ने गुड़गाँव के पास सत्तरह सौ एकड़ भूमि, जिसकी कीमत लगभग एक हज़ार करोड़ रुपये आँकी गयी है, उसे मात्र तीन सौ साठ करोड़ रुपये में मुकेश अंबानी को दे दी गयी है। इसी तरह से पंजाब और आन्ध्र प्रदेश में भी किसानों की ज़मीन सस्ते में हथिया कर उद्योगपतियों को सौंप देने के लिए, साम, दाम, दण्ड, भेद हर तरीका यहाँ की सरकार किसानों के ऊपर अपना रही है।

इतना ही नहीं इन क्षेत्रों को विकसित करने वाले ठेकेदार पूँजीपतियों के लिए भी जरूरी सामानों के आयात या स्थानीय खरीद पर तटकर व उत्पाद करों में काफ़ी छूट दी गयी है। प्रत्यक्ष करों में 10 साल तक की छूट के अलावा उन्हें सेवा कर से भी मुक्त रखा गया है। वे बिना कोई सेवा कर दिये इन क्षेत्रों में आवास, होटल, रेस्ट्रा, सुरक्षा जैसी सुविधाएँ व्यापारिक मूल्यों पर देते रह सकते हैं। देर-सबेर श्रम कानूनों को भी इस क्षेत्र के हित में मुक्त कर दिया जाना है।

यानी यह एक ऐसा क्षेत्र होगा जहाँ कोई भी देशी-विदेशी पूँजीपति या उद्योगपति अपनी इकाइयाँ लगा सकता है बिना कोई उत्पादन या तटकर दिये। इन इकाइयों को लगाने के लिए उन्हें सरकार से विशेष अनुमति लेने की जरूरत भी नहीं पड़ेगी। ये अपने उत्पादों के लिए कहीं से भी कच्चा माल आयात कर सकते हैं, इसके लिए उन्हें कोई आयात शुल्क नहीं देना होगा या देश के भीतर खरीद सकते हैं और इन्हें कोई उत्पाद शुल्क नहीं देना पड़ेगा और साथ ही केन्द्रीय बिक्री कर की राशि भी वापस कर दी जायेगी। लाभांश वितरण कर, बिक्री कर, न्यूनतम वैकल्पिक कर, पूँजीगत लाभ कर, ब्याज पर कर, वैट आदि में भी छूट दी गयी है। इन विशेष आर्थिक क्षेत्रों में सेवा कर भी माफ़ होगा। एक अनुमान के अनुसार इस क्षेत्र को दिये जा रहे इन छूटों से सरकार को नब्बे हज़ार करोड़ से एक लाख करोड़ रुपये तक का राजस्व घाटा उठाना पड़ेगा।

इस तरह इससे साफ़ हो जाता है कि 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' के नाम पर पूँजीपतियों के लिए एक ऐसे स्वर्ग की रचना की जा रही है जहाँ उसे मेहनतकशों को लूटने की पूरी छूट होगी। और लूट के इस साम्राज्य को खड़ा करने के लिए उसे किसी प्रकार का कोई कीमत भी नहीं अदा करनी होगी। इसे कहते हैं 'हल्दी लगे न फिटकरी रंग चोखा'।

'विशेष आर्थिक क्षेत्र' के निर्माण के तहत सरकार की ओर से उद्योगपतियों को दी जाने वाली छूटों ने एक बार फिर साबित कर दिया है कि सरकारें पूँजीपतियों की 'मैनेजिंग कमेटी' से अतिरिक्त कुछ नहीं है उनका काम है आम मेहनतकश जनता की लूट से पूँजीपतियों के मुनाफ़े की व्यवस्था को बनाये रखना। यह सरकारे एक तरफ तो पूँजीपतियों के लाभ के लिए तरह-तरह की नीतियाँ बनाती हैं दूसरी तरफ पैसे की तंगी का रोना रोती हैं और अपना घाटा और अनुदान कम करने के लिए राशन, बिजली, पानी, खाद, शिक्षा, इलाज आदि महँगा कर जनता की लूट को जारी रखती हैं। मज़दूर वर्ग इनके लिए मुनाफ़ा कमाने के साधन के अलावा कुछ नहीं है।

अब मज़दूर वर्ग को सोचना है कि वे कब तक इन लुटेरों के जमात को बर्दाश्त करते रहेंगे और अपनी बर्बादी का तमाशा देखते रहेंगे? दुनिया की दौलत को पैदा करने वाले मेहनतकशों को इस स्थिति को उलटने की तैयारी के काम को तेज करना होगा।

सरकारी जेबकतरों ने जनता की जेब काटकर "जनसेवकों" को दिया बम्पर सरकारी ईनाम

बिगुल संवाददाता

दिल्ली। मानसून के बिगड़े मिजाज से इस साल खेती-किसानी के इलाकों में भले ही सूखे के हालात पैदा हो गये हों लेकिन देश की संसद के मानसून सत्र में "माननीय" सांसदों के ऊपर झमाझम बारिश हुई। सत्र खत्म होते-होते उनके वेतन-भत्तों और सुविधाओं-सहूलियतों में दुगनी-चौगुनी बढ़ोत्तरी हो गयी। सरकारी खजाने से हुई इस बारिश में भीगते हुए हँसी-खुशी के माहौल में सभी पार्टियों के सांसद अपनी-अपनी जनता के पास पहले से भी अधिक मनोयोग के साथ "सेवा" करने चले गये।

संसदीय कार्य मंत्री प्रियरंजन दास मुंशी ने जिस दिन "जनसेवा" के बदले में इस बम्पर सरकारी ईनाम की घोषणा की उस दिन सांसदों के चेहरों पर सुख-सन्तोष का वैसा ही भाव दिखायी दिया जैसा घर में रखी मलाई चटकर जाने के बाद बिल्लियों के चेहरों पर दिखायी देता है। संसद में आम तौर पर मछली बाजार का नजारा रहता है लेकिन उस दिन अजब शान्ति थी। सभी पार्टियों के सांसदों के बीच गजब का भाईचारा भी नज़र आया। उस दिन न किसी की धोती खोली गयी और न ही किसी की ओर माइक उछाला गया। किसी को साला-बहनोई कहने जैसी असंसदीय शब्दावली का प्रयोग भी नहीं हुआ और एक-दूसरे को लात-मुक्के भी नहीं दिखाये गये। सरकारी वामपंथियों ने अलबत्ता मक्खियों की तरह भिनभिनाकर इस शान्ति में खलल डालने की कोशिश की लेकिन तवज्जो न मिलने पर झेंपते-सकुचाते वे अपनी-अपनी सीटों पर दुबक गये। दरअसल, उनके संसदीय बिरादर यह ताड़ गये थे कि उनकी 'ना-ना' में 'हाँ-हाँ' छुपी हुई है।

बहरहाल, आइये देखें कि "जनसेवकों" को जनता पर सवारी गाँठने के बदले मिलने वाली पुरस्कार राशि में कितनी बढ़ोत्तरी की गयी है!

सांसदों का वेतन 12 हज़ार से बढ़ाकर 16 हज़ार रुपये और दैनिक भत्ता 5 सौ से बढ़ाकर 1 हज़ार रुपये कर दिया गया है। कार्यालय खर्च 14 हज़ार से बढ़कर 21 हज़ार रुपये प्रति माह और चुनाव क्षेत्र भत्ता भी 10 हज़ार से बढ़कर 23 हज़ार रुपये हो गया है। अगर केवल वेतन-भत्तों की बात करें तो हर सांसद को सालाना लगभग 12 लाख रुपये से ऊपर मिलेंगे। गौरतलब है कि सांसदों का आयकर भी माफ़ है। इसके अलावा अब यात्रा भत्ता 7 रुपये प्रति किलोमीटर के बजाय 13 रुपये प्रति किलोमीटर और मुफ्त एकल हवाई यात्राओं की संख्या भी 32 से बढ़ाकर 34 कर दी गयी है। सांसदों को पहले दो फिक्स्ड फोन (एक दिल्ली में और एक चुनाव क्षेत्र में) और एक मोबाइल फोन की सेवा मुफ्त दी जाती थी। अब एक और मोबाइल मिलेगा। पहले इन सब पर कुल मिलाकर एक लाख स्थानीय काल या इसके बराबर मूल्य के एस.टी.डी. कॉल मुफ्त दिये जाते थे लेकिन अब मुफ्त कालों की संख्या बढ़ाकर दो लाख कर दी गयी है। सांसदों को राजधानी में आवास सुविधा पहले भी मुफ्त थी लेकिन संसद न रहने पर दो महीने में आवास खाली कर देना पड़ता था। अब भूतपूर्व सांसद छह महीने तक मुफ्त सरकारी आवास में डेरा जमाये रख सकते हैं। आवास पर बिजली भी मुफ्त ही है। भूतपूर्व सांसदों की पेंशन भी बढ़ाकर तीन हज़ार रुपये से आठ हज़ार रुपये कर दी गयी है। पहले दिवंगत सांसदों को फैमिली पेंशन केवल दो साल के लिए मिलती थी अब इसे भी बढ़ाकर आजीवन कर दिया गया है। यह तो हुई "माननीयों" की कानूनी कमाई। तरह-तरह के घूस और भ्रष्टाचार से होने वाली काली कमाई की चर्चा न करना ही बेहतर है।

इतना ही नहीं, सांसदों के ये वेतन-भत्ते अपने-आप बढ़ते रहें इसका भी स्थायी इन्तज़ाम करने की चर्चा चल पड़ी है। संसदीय कार्य मंत्री प्रियरंजन दास मुंशी ने बताया कि संसद के अगले सत्र में इस बारे में एक विधेयक पेश किया जायेगा। मंत्री महोदय से कुछ मीडियाकर्मियों ने यह पूछा कि जब महंगाई से गरीब जनता त्राहि-त्राहि कर रही है तो सांसदों के वेतन-भत्तों में इस बढ़ोत्तरी का क्या तुक है तो वह मीडिया पर ही बरस पड़े। उन्होंने झल्लाते हुए कहा कि मीडिया को तो बस चटपटी-मसालेदार खबरें चाहिए।

यह भी एक आँखें खोलने वाला तथ्य है कि संसद नामक निठल्ली बहसबाजी के राष्ट्रीयअड्डे की एक घण्टे की कार्रवाई पर 16 लाख रुपये खर्च होते हैं। संसद के हर सत्र में बहिष्कार, हल्ला-हंगामा-धमाचौकड़ी आदि के चलते 50-60 घण्टे का समय बर्बाद होता है। यानी हर सत्र में औसतन 1 करोड़ रुपये यूँ ही स्वाहा हो जाता है। सांसदों के वेतन-भत्तों-सुविधाओं की इस बढ़ोत्तरी से सरकारी खजाने पर सालाना 60 हज़ार करोड़ रुपये का अतिरिक्त बोझ पड़ेगा। लेकिन इससे सरकार की पेशानी पर कोई बल नहीं पड़ेगा। इसका इन्तजाम वित्तमंत्री महोदय कर देंगे। आखिर उन्हें जनता की जेब काटने का सरकारी लाइसेंस जो मिला हुआ है। "जनतंत्र" का यह बोझ भी जनता के ऊपर लाद दिया जायेगा।

"जनतंत्र" का यह बोझ जनता की छाती पर केवल सांसदों-विधायकों के वेतन-भत्तों के रूप में ही नहीं है। देश के राष्ट्रपति पर रोजाना लगभग पाँच लाख रुपये और प्रधानमंत्री कार्यालय का रोजाना खर्च लगभग तीन लाख रुपये है। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल पर प्रतिदिन 15 लाख रुपये से अधिक खर्च होते हैं। विशिष्ट व्यक्तियों की सुरक्षा पर सालाना लगभग दो अरब रुपये खर्च होते हैं और मंत्रीपरिषद की सुरक्षा पर भी सालाना 50 करोड़ रुपये से अधिक खर्च होते हैं। सोचने की बात है कि देश के इन "जनसेवकों" को आखिर डर किससे है! देश की उस "जनता" से ही तो नहीं जिसने उन्हें "चुनकर" संसद में भेजा है।

यह तो सिर्फ़ "जनप्रतिनिधियों" के खर्चों का बोझ है। विराट नौकरशाही तंत्र, पुलिस-फ़ौज और अद्धसैनिक बलों पर होने वाले अरबों रुपयों के अनुत्पादक खर्चों का बोझ भी शामिल कर दिया तब असली हकीकत सामने आयेगी कि देश की मेहनतकश जनता की छाती पर "जनतंत्र" का कितना बड़ा बोझ लदा हुआ है!

जाहिर है कि "जनप्रतिनिधि" नामक नस्ल के पूँजीपतियों के ये वफादार कुत्ते जनता पर भौंकने-काटने की अच्छी खासी कीमत वसूलते हैं और यह कीमत भी वे उसी जनता से वसूलते हैं जिसकी हड्डियाँ निचोड़कर पूँजीपति अपना मुनाफ़ा कमाते हैं।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
संपादक : डा. दूधनाथ, सम्पादकीय पता : 69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006, सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ।